ऊल-जलूल, आडम्बरपूर्ण थोथी रचनाओं के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना आ जाती है, क्योंकि यह उनकी कलई खोलकर रख देती है । परन्तु अब प्रगतिवादी आलोचना में पर्याप्त संतुलन आता जा रहा है ।

(4) निर्णयात्मक समीक्षा – इसमें सामान्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य ग्रंथों के गुण-दोषों का विवेचन कर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन किया जाता है और उन्हीं के अनुकूल उनको श्रेणीबद्ध भी किया जाता है । इसमें समालोचक का रूप न्यायाधीश का होता है । वह निर्णय देता है कि आलोच्य कृति अच्छी है अथवा खराब ? उसमें कौन-कौन से गुण और दोष हैं ? कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर वह उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू कर उसकी रचना की परीक्षा करता है । उसकी जिज्ञासा – यह काव्य कैसा होना चाहिए था – के रूप में होती है । योरोप में कुछ समय तक अरस्तू के नियम 'वेद-वाक्य' समझे जाते रहे थे और भारत में मम्मट और विश्वनाथ के सिद्धान्त हमारी आलोचना के आधार माने जाते रहे थे । इस आलोचना को 'शास्त्रीय आलोचना' भी कहते हैं । परन्तु कुछ आलोचक शास्त्रीय नियमों की अवहेलना कर कृति के अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार अपना निर्णय देते हैं । इसमें आलोचक की अपनी भावानुभूति प्रबल रहती है । निर्णायक आलोचना करनेवाले आलोचकों का एक दूसरा वर्ग कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव कर अपना निर्णय देता है । ऐसे आलोचना को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, क्योंकि यह भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकनेवाली होती है तथा इसमें वह गहराई नहीं आ पाती जो सत्साहित्य के सृजन की प्रेरक होती है । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्र-बन्धुओं की आलोचना इसी प्रकार की मानी गई है ।

6.7 मुख्य तत्त्व

समालोचना के उपर्युक्त विभिन्न प्रकारों के अतिरिक्त आजकल कुछ प्रमुख आलोचक इन सभी प्रकार की पद्धतियों की मिली-जुली दंड की आलोचना लिखने लगे हैं । इस नवीन 'मिश्रित आलोचना-पद्धति' के अनुसार 'साहित्य विवेचन' के लेखक द्वय ने वर्तमान काल की आलोचना के मुख्य तत्त्वों की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की है –

(1) समालोचना में ऐतिहासिक दृष्टिकोण – जिसके अन्तर्गत (क) कवि के समय की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है । (ख) कवि के समय में प्रचलित विभिन्न आदर्शों तथा उद्देश्यों की समीक्षा की जाती है ।

(2) समालोचना में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण – जिसके अन्तर्गत (क) कवि या कलाकार के जीवन, उनकी पारिवारिक परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ उनकी मानसिक स्थितियों का तादात्म्य बैठाया जाता है । (ख) कवि के काव्य की, उसकी विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार व्याख्या की जाती है ।

(3) समालोचना के व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण – जिसके अन्तर्गत कवि के काव्य का अध्ययन किया जाता है, विषय, भाषा-शैली, रस-परिपाक तथा मूर्तिमत्ता इत्यादि के अनुसार साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या कर आलोच्य रचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है ।

(4) समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जाता है । देश तथा काल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आलोच्य कवि या कलाकार की पूर्ववर्ती तथा सामयिक कवियों के साथ तुलना कर उनका साहित्य में स्थान निर्धारित किया जाता है ।

आलोचना के उपर्युक्त विस्तृत क्षेत्र के कारण आज का आलोचक अपनी आलोचना में सार्वभौम दृष्टिकोण के सन्तुलन में असमर्थ रहा है । वह रूचि-विशिष्टता से एक ही तत्त्व को महत्त्व देता है । इधर हिन्दी में एक नई आलोचना-पद्धति के दर्शन होने लगे हैं, जिसका प्रारंभिक रूप छायावादी कवियों द्वारा अपने काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में मिलता है । नवीन कृतिकार भी लगभग उसी पद्धति पर स्वयं अपनी और अपने साहित्य की व्याख्या करने लगे हैं । इन आलोचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है - मानो कवि या लेखक आपको यह समझाने की प्रयत्न कर रहा है कि वह भी महान है, और आपको उसकी महानता को स्वीकृति देनी ही चाहिए । वह कभी यह प्रयत्न छद्यनाम से स्वयं अपनी आलोचना लिखकर भी करता है और कभी अपने मित्रों, सहवर्गियों आदि द्वारा अपनी प्रशंसापरक आलोचनाएँ लिखवाकर भी करता है । यह स्थिति अशोभनीय और घातक है ।

इसके अतिरिक्त आलोचना का एक और नया रूप उभर रहा है । इसमें आधुनिक पाश्चात्य सौन्दर्य-बोध पर आधारित आलोचना का ऐसा जटिल और दुरूह रूप सामने आ रहा है जिसके मानदण्ड और शब्दावली-सब कुछ विदेशी और भारतीय परिवेश से कटे हुए हैं । यह आत्म-प्रधान आलोचना का ही एक नया रूप है । हिन्दी के अनेक नवोदित आलोचक पाश्चात्य आलोचना में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली को हिन्दी में ऐसा क्लिप्ट करते हैं जिसमें से उनके अभिप्राय को निकाल लेना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।

6.8 अभ्यास के प्रश्न

1. आलोचना की परिभाषा, उद्देश्य एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालें ।
2. आलोचना की पद्धतियों का विश्लेषण करें ।
3. पाश्चात्य आलोचना और भारतीय आलोचना की तुलनात्मक विवेचना कीजिए ।

भक्ति आन्दोलन : आचार्य शुक्ल का विचार

पाठ संरचना

7.0 उद्देश्य
7.1 परिचय
7.2 आचार्य शुक्ल का भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में विचार
7.3 अभ्यास के प्रश्न

7.0 उद्देश्य

भक्ति आन्दोलन का सवाल एक अर्द्धशतक से भी ज्यादा समय से हिन्दी के आचार्यों और आलोचकों के बीच किसी-न-किसी रूप में उठता रहा है । या तो इसे साहित्येतिहास की पुस्तकों में उठाया जाता रहा है, या इसपर स्वतंत्र किताबें लिखकर इस पर चर्चा की जाती रही है । इस इकाई का उद्देश्य आचार्य शुक्ल का भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों से छात्रों को परिचित कराना है ।

7.1 परिचय

भक्ति आन्दोलन पर हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने जो चर्चा की है, उसका जिक्र करने के पहले यह देख लेना उचित होगा कि उसके पहले के क्या कुछ अन्य सूत्र हैं जो भक्ति आन्दोलन की ओर संकेत करते हैं । 'श्रीमदभागवतमहामात्य' में कुछ श्लोक हैं जो सीधे भक्ति और भक्ति आन्दोलन के प्रवाह की ओर इशारा करते हैं । इसी प्रकार हिन्दी की एक उक्ति भी है जो बहुत लोकप्रिय है और काफी विश्वास के साथ प्रमाण के रूप में उद्धृत की जाती है । पहले संस्कृत श्लोकों को देखें -

उत्पन्ना दाविके साहं वृद्धिं कर्नाटके गता ।
जातां युवती, सम्यक श्रेष्ठरूपा तु सांप्रतम् ।

हिन्दी में उक्ति है -

भक्ति द्राविड़ उपजौ लाए रामानन्द ।
प्रगट करी कबीर ने सप्तदीप नवखंड ।।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि भक्ति का उदय द्राविड़ देश में हुआ, तमिलनाडु में हुआ । परंतु इस तथ्य से आगे दोनों उद्धरण दो तरह के संकेत देते हैं । संस्कृत का श्लोक यह बताता है कि भक्ति का आगे विकास कर्नाटक

और फिर धीरे-धीरे महाराष्ट्र में हुआ, उसका पतन गुजरात प्रदेश में हुआ, फिर वृन्दावन में उसे पुनर्जीवन; उत्कर्ष तथा श्रेष्ठत्व की प्राप्ति हुई । हिन्दी की अनुश्रुत भक्ति के दक्षिण से रामानन्द द्वारा लाए जाने और उत्तर में कबीरदास द्वारा प्रसारित किए जाने का संकेत करती है ।

सवाल है कि कबीर आदि में सामाजिक रूढ़ियों के विरूद्ध जो विद्रोह भाव है वह सूर आदि में क्यों नहीं या फिर मंद है ? इस पर अलग विचार की जरूरत है । अभी तो यह विचारणीय है कि भक्ति आंदोलन पर आचार्य शुक्ल का क्या विचार है ।

7.2 आचार्य शुक्ल का भक्ति आंदोलन के सम्बन्ध में विचार

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य शुक्ल ने मध्यकालीन धार्मिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य की चर्चा करते हुए भक्ति आंदोलन के उत्तर भारत में प्रसार के कारणों और स्रोतों का कुछ हवाला दिया है । आचार्य शुक्ल का एक अनुच्छेद में उल्लिखित निम्न वक्तव्य ही आगे चलकर हजारी प्रसाद द्विवेदी की चर्चा के केन्द्र में आया और विवाह का सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा बना । अनुच्छेद निम्नवत है –

''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित होने जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में, गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया । उसके सामने ही उसके मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं, और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ न कर सकते थे । ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे । आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए । इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही । अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरे मार्ग की क्या ?''

हिन्दी साहित्य के अपने इतिहास में भक्तिकाल का प्रारंभ करते हुए सामान्य परिचय के रूप में राजनीतिक परिस्थिति का विवरण देते हुए आचार्य शुक्ल ने अपनी उक्त मान्यता प्रस्तुत की है जो भक्तिकाल और भक्तिकाल के उत्तर भारत में उदय का सम्बन्ध इस्लाम के आक्रमण से पराभूत अपने पौरूष से हताश हिन्दू जाति के पराजय बोध से जोड़ती है । यह बात कि भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के उत्तर भारत में उदय का सम्बन्ध आचार्य शुक्ल ने इस्लामी आक्रमण से एकाध अन्य स्थानों पर जोड़ा है, सही है । उदाहरण के रूप में वीरगाथा काल का प्रकरण समाप्त करते हुए वे कहते हैं –

'मोटे हिसाब से वीरगाथाकाल को महाराज हम्मी के समय तक ही समझना चाहिए । इसके उपरान्त मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिन्दू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उत्साह रहा, और न ही मुसलमानों से लड़ने का । जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली । मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदय ग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे ।''

सूरदास पुस्तक में वल्लभाचार्य पर लिखते हुए आचार्य शुक्ल ने उनके कृष्णाश्रय नामक प्रकरण ग्रंथ की चर्चा की है और लिखा है –

''कृष्णाश्रय नामक अपने प्रकरण ग्रंथ में आचार्य जी ने देशकाल की अत्यंत विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें वेद मार्ग या मर्यादा मार्ग का अनुसरण उन्हें अत्यंत कठिन या असंभव दिखाई पड़ा । वल्लभाचार्य जी के समय में देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था । हिन्दुओं का एकमात्र स्वतंत्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था। पर बहमनी सुल्तानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे । इस्लामी संस्कृति का प्रभाव अच्छी तरह जम रहा था । सूफी भक्तों या पीरों के द्वारा सूफी पद्धति की भक्ति का प्रचार कार्य चल रहा था ।''

आचार्य शुक्ल की इस इतिहास दृष्टि की आलोचना सबसे पहले आचार्य द्विवेदी ने की और भक्तिकाल तथा भक्तिकाव्य के उत्तर भारत में उदय को लेकर अपनी नई स्थापना दी जो नि:संदेह शुक्ल जी की उक्त मान्यता की तुलना में अधिक प्रशस्त, तर्कपुष्ट और ग्राह्य है । आचार्य द्विवेदी के उपरांत अन्य कुछ विद्वानों ने भी आचार्य शुक्ल की उक्त इतिहास दृष्टि को संकुचित और सांप्रदायिक आग्रह पर आधारित बताया, यहाँ तक कि उसे साम्राज्यवादी हितों का पोषक भी कहा । पहले हम भक्ति, भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के उदय के बारे में, विशेषत: उत्तर भारत में आचार्य शुक्ल के कुछ और कथनों को भी प्रस्तुत करना चाहेंगे जो उनके अपने इतिहास में तथा 'सूरदास' जैसी किताब में है । इन कथनों से भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के उत्तर भारत में उदय के बारे में शुक्ल जी के मंतव्यों के विवेचन तथा उनकी मूलवर्ती दृष्टि को समझने में हमें मदद मिलेगी ।

भक्तिकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा करने के उपरांत जिससे संबद्ध शुक्ल जी के विवादास्पद उद्धरण को हम पीछे दे चुके हैं, शुक्ल जी ने भक्तिकाल की धार्मिक स्थिति का भी जायजा लिया है । यहाँ वे कहते हैं –

''धर्म की भावनात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण काल में हुआ था, कहीं दबती, कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी ।'' इसी प्रसंग में वे कहते हैं – ''भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला । रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी ।''

इसके पहले उनका कथन है – ''सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्म भाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था । परिवर्तन के लिए बहुत कड़े धक्कों की आवश्यकता थी ।''

सच्चे धर्म भाव के ह्रास को उन्होंने इस प्रकार समझाया है – ''धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में चलता है । इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है । किसी एक के भी अभाव में वह विकलांग रहता है । कर्म के बिना वह लूला, लंगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदयविहीन क्या निष्प्राण रहता है ? ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं । कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की संपत्ति होती है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान और तीर्थाटन, पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ चला आता था । धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति जिसका सूत्रपात....। (शुक्ल जी का यह कथन हम पीछे उद्धृत कर चुके हैं ।)

शुक्ल जी ने लिखा है कि ''अर्थशून्य बाहरी विधानों की निस्सारता का प्रतिपादन नाथों और सिद्धों ने किया जरूर, परन्तु उनका उद्देश्य कर्म को उस तंग गड्ढे से निकाल कर प्रकृत धर्म के खुले क्षेत्र में लाना न था, बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था । जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण विधायक सच्चे कर्मों की ओर

ले जाने के बदले, उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे ।''

अपने इस चर्चा में इन्होंने यह भी कहा है - ''भक्ति आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई । महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध संत नामदेव ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का आभास दिया । उसके पीछे कबीर ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित ढंग से यह मार्ग निर्गुण पंथ के नाम से चलाया ।'' कुछ आगे चलकर शुक्ल जी ने लिखा है -

''कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे । क्रमशः भक्ति का ऐसा प्रवाह विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में भी न जाने कितने आ गए ।''

जिन कालदर्शी भक्त कवियों की ओर शुक्ल जी ने ऊपर संकेत किया है, उनमें कबीरदास भी हैं, जिनके बारे में कहा गया है, शुक्ल जी ने न्याय नहीं किया है । शुक्ल जी लिखते हैं -

''इसमें संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ । इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और शक्ति के उँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया ।''

आचार्य शुक्ल के ये कुछ कथन हैं जिनके साक्ष्य पर भक्ति, भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के बारे में उनकी दृष्टि को आंका जा सकता है ।

भक्ति, भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के विवेचन की दिशा में आचार्य शुक्ल के उपरांत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं को लेकर सामने आए । अपने स्थापनाएँ उन्होंने आचार्य शुक्ल तथा इस विषय पर लिखने वाले कतिपय अन्य देशी-विदेशी विद्वानों की मान्यताओं को काटते हुए, और जैसा कि उन्होंने आगे स्वतः स्वीकार किया है, आक्रामक रूख अख्तियार करते हुए प्रस्तुत की ।

शुक्ल जी की इस मान्यता का कि उत्तर में भक्तिकाल और भक्तिकाव्य का उदय इस्लामी आक्रमण से पराभूत और हताश हिन्दू जाति के पराजित मनोभाव का परिणाम है, आचार्य द्विवेदी ने कड़ा प्रतिवाद किया । उन्होंने लिखा -

''मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है ।'' (हिन्दी साहित्य की भूमिका ।)

आचार्य शुक्ल के इस कथन का कि भक्ति काव्य हिन्दू जाति के पराजित मनोभाव का परिणाम है, प्रतिवाद करते हुए उन्होंने लिखा कि ''सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है । जिस समाज को ये भक्तगण सुधारना चाहते थे, उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य नहीं किया था ।''

अपने पहले के कथन को कुछ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि ''इन सबका यह अर्थ नहीं कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव साहित्य पर नहीं पड़ा है ।'' कदाचित् चार आने का अवकाश इसीलिए उन्होंने छोड़ा भी है किन्तु

उनके अनुसार ''प्रभाव को प्रभाव के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए प्रतिक्रिया के रूप में नहीं ।''

भक्ति के उदय को आचार्य द्विवेदी ने किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न मानकर भारतीय चिन्ता और भारतीय धर्म चेतना की स्वाभाविक परिणति के रूप में देखा । उसे उन्होंने इनके लोक की ओर झुकने का परिणाम माना । इसके मूल में उन्होंने बाहरी कारणों की तुलना में भीतरी शक्ति की ऊर्जा देखी और लिखा –

''भारतीय पाण्डित्य इसा की एक शताब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था । यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता । उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी ।'' (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 15)

''जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए थे उससे कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी । यह घटना इस्लाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था । इस घटना ने भारतीय धर्म मत और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया था । उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबरदस्त ठोकर लगी थी । सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था । बहुत से पंडित जन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे, और अपने-अपने ढंग पर भारतीय समाज और धर्म मत को संभालने का यत्न कर रहे थे ।

आचार्य द्विवेदी द्वारा पेश की गई इस पहेली में न उलझते हुए (कि इस्लामी आक्रमण का जो प्रभाव समाज पर इतना कठोर हो और सारे सामाजिक वातावरण को भयानक रूप से संक्षुब्ध कर देने वाला हो, साहित्य जो सामाजिक जीवन स्थितियों की ही संवेदनात्मक अभिव्यक्ति होता है उस पर इस आक्रमण का प्रभाव महज चार आने या कि नगण्य हो, ऐसा कैसे संभव है) हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि भक्ति के उदय के बारे में जो मान्यताएँ आचार्य द्विवेदी ने प्रस्तुत की हैं, वे निश्चय ही आचार्य शुक्ल की मान्यताओं की अपेक्षा अधिक तर्कपुष्ट एवं वैज्ञानिक हैं । भक्तिकाव्य को शिव कुमार मिश्र भी निराश और हताश हिन्दू जनता की पराजित मनोवृत्ति का परिणाम नहीं मानते और ना ही भक्तिकाव्य को इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया के रूप में देखते हैं जैसा कि आचार्य शुक्ल के विचारों से प्रकट होता है । आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं पर सापेक्ष ढंग से अब हम कुछ विस्तार से विचार करें और देखें कि अपनी मान्यताओं के चलते आचार्य शुक्ल क्या सचमुच साम्प्रदायिक इतिहास दृष्टि के शिकार हुए हैं और आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि सेक्युलर यानी धर्मनिरपेक्ष है और यह भी देखना चाहेंगे कि क्या वस्तुत: शुक्ल जी के विचार आचार्य द्विवेदी के विचारों से एकदम अलग है, अथवा दोनों में कहीं समानरूपता भी है । इस विषय पर विचार करना इस नाते जरूरी है कि इन दोनं आचार्यों की मान्यताओं और दृष्टिकोणों को लेकर हिन्दी में काफी कुछ सही-गलत लिख गया है जिससे भ्रम भी फैला है और बातें आगे भी खींचकर ले जाई जाती रही है ।

सबसे पहले आचार्य शुक्ल की मान्यता को लें । हम कह चुके हैं कि भक्तिकाल के विवेचन में अपने इतिहास में, राजनीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए जो पूरा का पूरा पैराग्राफ शुक्ल जी ने लिखा है और जिसे हम उद्धृत कर चुके हैं तथा उसी तरह के जो दो एक अन्य कथन उन्होंने किए हैं वे सही नहीं हैं । वे भक्तिकालीन स्थितियों मुख्य अंतर्विरोध को नजरअंदाज करने वाले हैं और बड़े सरल तरीके से सारी बात को इस्लाम और हिन्दू धर्म से जोड़ देते हैं । जो कुछ भी आचार्य शुक्ल ने इन कथनों में कहा है या कहना चाहा है उसे आसानी से उनकी सांप्रदायिक मनोवृत्ति का इजहार माना जा सकता है । इन कथनों से उत्पन्न इस निष्कर्ष को 'डिफेण्ड' करने या उसे कमतर करके आँकने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता । आचार्य शुक्ल के सबसे बड़े मार्क्सवादी पक्षधर डॉ० रामविलास शर्मा भी अंतत:

शुक्ल जी की इस मान्यता को अस्वीकार ही कर पाए हैं । उसे 'डिफेण्ड' करने या उसे कमतर करके आंकने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता ।

हम यहाँ जो कहना चाहते हैं वह यह कि आचार्य शुक्ल हों या आचार्य द्विवेदी या कोई और किसी के दृष्टिकोण पर निर्णयात्मक रूप से कहने के पहले हमें उसके समग्र दृष्टिकोण को सामने रखना चाहिए, अंश मात्र को नहीं और यह भी देखना चाहिए कि यदि किसी की अपनी मूलवर्ती दृष्टि में ही अंतर्विरोध है तो उसका कारण क्या है ? समूचे दृष्टिकोण को विश्लेषित करके ही हमें किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए ।

इतिहास दृष्टि के सांप्रदायिक होने का सवाल तब उठता है जब कोई इतिहास दृष्टि से अनुशासित और नियंत्रित होते हुए अपने विवेचन में आगे बढ़े, और उसी के अनुरूप निष्कर्ष दे । शुक्ल जी के बारे में हमारा कहना यही रहा है कि उन्होंने सिद्धांत स्तर पर की गई अपनी गलत स्थापना को अपने व्यावहारिक विवेचन में मुख्य नहीं बनाया । भक्त कवियों के विवेचन में उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म के संघर्षों को न तो प्रतिफलित होते हुए देखा और न ही दिखाया । इन कवियों के विवेचन में और उनके पूर्वाग्रह जो रहे हों, (मसलन कबीर को समुचित न्याय न दे पाना, सूर के साथ तुलसी की तुलना में निष्पक्षता न बरतना) और इन पूर्वाग्रहों के पीछे उनकी मनोवृत्ति जो रही हो, वह इस्लाम और हिन्दू धर्म के परस्पर संघर्ष तथा हिन्दू जाति के पराजित मनोभाव की सूचक नहीं रही है । उल्टे पूर्वाग्रहों के रहते हुए उन्होंने अपने विवेचन में अपेक्षाकृत अपनी प्रशस्त दृष्टि भी पहले उद्धृत किए हैं । अनेक स्थलों पर उन्होंने कहा है कि कट्टर मौलवियों और पंडितों की बात और है जहाँ तक साधारण जनता का सवाल है वह राम और रहीम की एकता पहचानने लगी थी और एक-दूसरे के करीब आने लगी थी और बहुत कुछ उन्होंने इसी मनोभूमि के तहत कहा और लिखा है । जायसी तथा रसखान जैसे मुसलमान भक्त कवियों की मुक्त कंठ से सराहना की है और जायसी को हिन्दी को न केवल उन्होंने रेखांकित किया है बल्कि उसकी सराहना भी की है । पंडितों और मुल्लाओं के रूढ़िवाद को फटकारा भी है । कहने का अर्थ है उनका भक्त कवियों और भक्तिकाव्य का विवेचन उनकी विवादास्पद और गलत स्थापना से दूषित नहीं होने पाया है । ऐसी स्थिति में उनके विशेष कथन को सांप्रदायिक इतिहास दृष्टि का प्रमाण भले माना जाए, और वह है परन्तु आचार्य शुक्ल की 'टोटल एप्रोच' को उनकी मूलवर्ती इतिहास दृष्टि को सांप्रदायिक कहकर खारिज करना सही नहीं होगा ।

अब सवाल है कि उक्त गलत स्थापना शुक्ल जी ने आखिर दी क्यों ? इसके कारणों की चर्चा होनी चाहिए । भक्तिकाव्य के एक प्रबद्ध अध्येता लक्ष्मीनारायण वर्मा ने इसका कारण आचार्य शुक्ल की इस धारणा को माना है कि साहित्य जनता की या शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है । उनके अनुसार यह सरलीकरण है । उनका कहना है कि शुक्ल जी वस्तुस्थिति को ऊपरी तौर पर लेते हैं । उनकी गलती यह न थी कि वे भक्ति को तत्कालीन स्थिति से संबद्ध करके देखते हैं, वरन् यह थी कि उन्होंने स्थिति की गहराई में जाने का प्रयास करके उसको (भक्ति को) ऊपरी अधिरचना में घट रहे महत्त्वपूर्ण उदीयमान परिवर्तनों से जोड़कर समझने के बजाय सीधे सतही और यांत्रिक तौर पर इस्लाम के सामने हिन्दुओं के पराजय बोध से संबद्ध करके देखा । यही नहीं, सामान्य चित्तवृत्ति, चाहे वह निराशा हो या आशा से संबंधित, यह सारा विवाद ही अफलप्रद एवं निष्प्रयोजन और इसीलिए अनावश्यक और निरर्थक है । जहाँ तक हम समझते हैं ऐसे सपाट किस्म के सरलीकृत सामान्यीकरण में न तो वर्ग समाज की विषम वास्तविकता का ध्यान रखा गया होता है और न साहित्य जैसी संश्लिष्ट संरचना की मूल प्रेरणाओं सहित किसी काव्यधारा की कारणता की सटीक व्याख्या करने में हमारा मार्गदर्शन नहीं कर सकते । साहित्यिक परिवर्तनों को सामाजिक शक्तियों

के अंतर्विरोधों से अलग करके केवल जनता की सामान्य चित्तवृत्ति के आधार पर देखने के कारण शुक्ल जी की प्रणाली में समान परिस्थितियों में प्रवहमान विभिन्न काव्यप्रवृत्तियों की ठीक-ठीक व्याख्या न हो सकी थी ।''

एक बात और है जिसका सम्बन्ध आचार्य शुक्ल के साहित्य और जीवन संबंधी 'टोटल एप्रोच' से है । शुक्ल जी और प्रेमचन्द के दृष्टिकोणों की तुलना करते हुए अपने एक अन्यत्र प्रकाशित निबंध में हमने इसकी ओर संकेत किया है । इस बात को कुछ और सफाई के साथ कहने की जरूरत है ।

आचार्य शुक्ल मूलत: बुद्धिमानी हैं, विवेकवादी हैं; किन्तु उनके संस्कारों में गहरे कहीं हिन्दू धर्म मत कहिए, वैष्णव आदर्श और आचार-विचार कहिए, हिन्दू भावना कहिए, इस प्रकार का एक भाव विद्यमान है । उनका यह संस्कार उनकी विवेचना के दौर में, बीच-बीच में अक्सर जागृत हो जाता है और जब भी उसका दबाव ज्यादा होता है, वे कुछ इस प्रकार की सोच में भटक जाते हैं कि हिन्दूपन या हिन्दू भावना के प्रति उनका आग्रह साफ ऊपर आ जाता है । ऐसे अवसरों पर ही इस्लाम हो या ईसाईयत, उनके बारे में उनका और हिन्दू मत के बारे में भी उनका विवेकशील अभिमत पृष्ठभूमि में चला जाता है और वे हिन्दू धर्म के बरअक्स दूसरे धर्मों के प्रति आलोचनात्मक टिप्पणी कर बैठते हैं । कबीर के बारे में तमाम कुछ सही लिखते हुए वही सब कुछ जिसके आधार पर कबीर संबंधी आचार्य द्विवेदी के विवेचन की प्रशंसा होती है, वे उसका विस्तार नहीं कर पाते, कारण उसके विस्तार के मायने कबीर को ठेठ उस सबसे विरोध में खड़ा कर देना है जिसके प्रति शुक्ल जी संस्कारत: बँधे हैं । कबीर उनके जैसे समाज-सुधारक इसलिए नहीं हैं कि वे परंपरागत वेद शास्त्र-विहित समाज व्यवस्था को तोड़-फोड़ देना चाहते हैं जिसके प्रति संस्कारत: शुक्ल जी का लगाव है । वे हिन्दू धर्म के तमाम सारे ताम-झाम के खिलाफ हैं, वह अवतारवाद हो अथवा और कुछ जिसके प्रति शुक्ल जी की अनुरक्ति है । आर्य शास्त्रानुमोदित चली आ रही व्यवस्था को अपने विवेकवाद के तहत शुक्ल जी उदार जरूर बनाना चाहते हैं, न्यायोचित भी करना चाहते हैं, किन्तु उनमें बुनियादी फेरबदल कदापि नहीं चाहते जबकि कबीर का सारा विद्रोह बुनियाद के खिलाफ ही है । कबीर प्रखर प्रतिभा के धनी थे, यह बात शुक्ल जी ने चार-पाँच बार अपने संक्षिप्त कबीर संबंधी विवेचन में लिखी है, परन्तु कबीर की वह प्रखर प्रतिभा क्या थी, इसे नहीं बताया । कबीर ने बड़े नाजुक मौके पर जनता के एक बड़े भाग को संभाला, वह नाजुक मौका क्या था, और किस प्रकार कबीर ने जनता को संभाला, शुक्ल जी मौन हैं ? कबीर ने निम्न वर्ण की जनता के मन में आत्मगौरव का भाव जगाया, परन्तु इस निम्न वर्ण के आत्मगौरव को कौन रौंद रहा था और कबीर ने उसे निम्न वर्णों को किस प्रकार लौटाया, आचार्य शुक्ल का वृहत्तर हिन्दू व्यवस्था या आचार संहिता या धर्म विश्वास के प्रति संस्कारी आग्रह है और यही आग्रह जब तब अन्य जगहों पर भी उभर उठा है । नागमती की सहनशीलता, विनय और यातना की चर्चा करते समय उन्हें बार-बार हिन्दू गृहिणी की याद आ जाती है । भारतेन्दु जब पंचनंद और पानीपत का स्मरण 'हाय पंचनंद' कहते हुए करते हैं । शुक्ल जी भावुक हो उठते हैं । बहुत से प्रसंग हैं और इस संस्कार के चलते ही भक्तिकाल के राजनीतिक प्रसंग पर उन्हें देवमूर्तियों का तोड़ा जाना, पूज्य पुरुषों का अपमान, सब कुछ इतना महत्त्वपूर्ण लगने लगता है (अपने ढंग और अपनी जगह पर उसका महत्त्व हो भी) कि वे भक्तिकाल के उदय संबंधी एक महत्त्वपूर्ण साधना उसी से जोड़ कर दे डालते हैं, जो उनकी वस्तुत: इतनी कमजोर नस बन जाती है कि जो भी चाहे उस पर अँगुली रखकर उन्हें सांप्रदायिक आग्रह से ग्रस्त साबित कर सकता है।

शुक्ल जी ने भले ही मार्क्सीय ढंग का विवेचन न किया हो, भले ही भक्तिकाल संबंधी उनके विवेचन में मार्क्सवाद के नजरिए से देखने पर तमाम असंगतियाँ और त्रुटियाँ दिखाई पड़ें वे भले ही अपने संस्कारों और गलत

'एप्रोच' के चलते सांप्रदायिक मनोवृत्ति के दायरे में आ गए हों, आधारत: उनकी एप्रोच सांप्रादायिक नहीं है । वह बहुत कुछ उनके विवेकशील समीक्षक का ही साक्ष्य देती हैं । उनकी स्थापनाओं में हम तरमीम कर सकते हैं, उन्हें अमान्य कर सकते हैं, किन्तु यह कहना कि आचार्य शुक्ल सांप्रदायिक इतिहास दृष्टि के विवेचक या इतिहासकार हैं, उनके समग्र विवेचन को देखते हुए सही नहीं है । इसके विपरीत जिन्हें आचार्य शुक्ल की तुलना में वरीयता दी जाती है, उनके विवेचन में समग्रत: ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे जहाँ सांप्रदायिक मनोभूमि पर काव्य और रचनाकारों को विवेचित भी किया गया है, रूढ़िवाद और अंधविश्वासों को, गैर वैज्ञानिक बातों को, तंत्र-मंत्र-भूत-प्रेत आदि को सही बताया गया है, जर्जर कर्मकाण्डों की हिमायत दी गई है ।

आचार्य द्विवेदी की भक्ति और भक्तिकाल के बारे में की गई स्थापनाओं को लें और देखें कि उनमें क्या और कितना नयापन तथा मौलिकता है ।

आचार्य द्विवेदी जिस तरह हल्के ढंग से आचार्य शुक्ल के मत को रखते हैं उससे यह ध्वनित होता गया है कि आचार्य शुक्ल भक्ति के उद्‌भव या विकास से संपूर्णत: अपरिचित हों, और उत्तर में उसके हृदय को महज इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया ही मानते हों । आचार्य शुक्ल ने राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचन में जो कुछ लिखा हो, उत्तर भारत में भक्ति के उदय तथा क्रमश: प्रसार से वे पूर्णत: वाकिफ रहे हैं । ऐसा उनके कथनों से स्पष्ट है और हम उन्हें उद्धृत भी कर चुके हैं । तब उनका शुक्ल जी की ओर संकेत करते हुए यह कहना कि यह बात अत्यंत उपहासास्पद है कि मंदिर तो उत्तर के तोड़े जा रहे थे, परन्तु भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ । उसे तो सिंध में सबसे पहले आना चाहिए था अवांछित ही लगता है । इस प्रकार आचार्य शुक्ल के राजनीतिक पृष्ठभूमि वाले कथन को केन्द्रीय मानते हुए तथा उनके समय दृष्टिकोण को नजरअंदाज करते हुए उनका आचार्य शुक्ल की ओर बार-बार संकेत करते हुए उन्हें इस प्रकार पेश करना गोया भक्ति के उदय के बारे में या भक्तिकाव्य के उदय के बारे में उनका ज्ञान न केवल अस्पष्ट वरन् बहुत भ्रांत है, सही नहीं है । आचार्य शुक्ल की स्थिति को हम स्पष्ट कर चुके हैं । दुबारा हम उसकी चर्चा नहीं करेंगे, परन्तु इतना जरूर कहना चाहेंगे कि आचार्य शुक्ल ने प्राय: वह सब कहा है जिसे कहने का श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को दिया जाता है, अंतर यह है कि शुक्ल जी ने जो कहा उसका विस्तार नहीं किया और जो गलत कहा वह इतना प्रमुख बन गया कि उसी के आधार पर भक्ति और भक्तिकाव्य संबंधी उनकी धारणाओं का मूल्यांकन होने लगा । मसलन, शास्त्र के लोक की ओर झुकने की बात शुक्ल जी ने भी एकाधिक जगहों पर की है, लोक की शक्ति के वे आचार्य द्विवेदी की भाँति ही कायल हैं, शास्त्र को वे भी लोक से ज्यादा तरजीह नहीं देते, परन्तु शुक्ल जी की इन बातों की सही नोटिस नहीं ली गई ।

सूरदास पर लिखते हुए उन्होंने सूरसागर को पहले से चली आती हुई किसी लोक परंपरा की देन माना है । आधुनिक काल में काव्य के द्वितीय उत्थान की चर्चा प्रारंभ करते हुए शुक्ल जी ले लिखा है कि -

''पंडितों की बाँधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छंद और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है । ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य भाषा के साथ-साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है । जब पंडितों की काव्यभापा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकसभा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परंपरा में नया जीवन डालता है । जब-जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा,

तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा ।''

कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी लोकशक्ति के महत्त्व से परिचित ही नहीं है, शास्त्र के निर्जीव हो जाने पर लोक से उसके पुन: प्राण पाने की बात भी करते हैं और यह भी नहीं है कि इस्लाम के आ जाने से उन्होंने हिन्दू जनता और उस जनता के कवियों को संपूर्णत: हताश और निराश ही देखा हो । वीरगाथा काल की समाप्ति करते हुए जहाँ वे हम्मीर के पराभव के बाद ध्वस्त होती हुई राजनीतिक विवेचन में हिंदू जाति की हताशा और निराशा की चर्चा करते हैं, वीर गाथाकाल की समाप्ति वाले प्रकरण के अंत में यह भी कहते हैं कि ''पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीरकाव्य की रचना नहीं हुई । समय-समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए । हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप में जो काव्य सरिता वेग से प्रवाहित हुई यद्यपि वह आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर 904 वर्षों के हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते । इससे तात्पर्य यह है कि आगे भी वैसी रचनाएँ हुईं और वे भी जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब ही होगी, यद्यपि यह चित्तवृत्ति तब प्रधान नहीं रह गई थी, किन्तु नि:शेष भी न हुई होगी ।

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की कुछ अन्य समान स्थापनाओं को देखें - द्विवेदी जी ने टीका और निबंध ग्रंथों की रचना का जो मूल कारण बताया है वह है एक मजहब के रूप में, एक अभूतपूर्व घटना के रूप में इस्लाम का भारत में प्रवेश । इस्लाम के खतरे से अपनी जाति तथा धर्म को बचाने के लिए भारतीय मनीषा उस समय जो कर सकी उसी का परिणाम टीका तथा निबंध ग्रंथ है । इसके माध्यम से एक आचारप्रवण धर्ममत का उदय हुआ जो सारे भारतीयों को अपने अंतर्गत समेट सके । उसी को हिन्दू धर्म मत कहा गया । इस आचार-प्रवण हिन्दू धर्ममत में अब तीर्थ, व्रत, उपवास, होमाचार आदि प्रधान हो उठे ।

आचार्य शुक्ल ने भी मध्य युग में लिखे जानेवाले भाष्यों की चर्चा की है । उन्होंने जिन अर्थशून्य बाहरी कर्म विधानों का उल्लेख किया है । सवाल है कि वे किसकी उपज थे । क्या वे इन्हीं टीकाओं तथा निबंध ग्रंथों की उपज नहीं थे ? आखिर हजारी प्रसाद द्विवेदी भी तो उनसे उपजी थोथी आचार-प्रवणता, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि की बात करते हैं । शुक्ल जी ने स्पष्टत: टीका निबंध ग्रंथों की बात न की हो, परन्तु हिन्दू धर्ममत की तत्कालीन स्थिति के बारे में उनका निष्कर्ष द्विवेदी जी से भिन्न कहाँ है ?

यहीं पर एक अन्य सवाल भी उठता है । इस्लाम के संकट से निदान का जो प्रयास द्विवेदी जी ने टीका तथा निबंध ग्रंथों की रचना में देखा है, क्या वह संभव नहीं है कि इस प्रकार के टीका तथा निबंध ग्रंथ इस्लाम के संकट के पहले की भी उपज हों अर्थात् वे सीधे इस्लामी संकट का परिणाम न हों । चले आते परंपरागत धर्म को चुनौती इस्लाम से तो मिली, परन्तु यह तो कुछ बाद की बात है, उसे चुनौती तो पहले भी भीतर से ही मिल रही थी । यह चुनौती थी नाथों तथा सिद्धों की ओर ऐसी स्थिति में क्या संभव नहीं है कि चले आते हुए धर्म को आचार-प्रवण बनाने का प्रयास टीका तथा निबंध ग्रंथों के माध्यम से पहले भी हुआ हो उसका सीधा संबंध इस्लाम की तरफ से आनेवाले संकट को ही क्यों माना जाए ? कहने का मतलब यह कि टीका तथा निबंध ग्रंथों की यह परंपरा बाहरी चुनौती के साथ-साथ आंतरिक चुनौती का भी प्रतिफल मानी जा सकती है । द्विवेदी जी ने इस संभावना की ओर कोई संकेत नहीं दिया है ।

शुक्ल जी और द्विवेदी जी के चिंतन में जो अंतर इस बिन्दु पर है वह यह कि जहाँ द्विवेदी जी तमाम प्रकार की निस्सार आचार-प्रवणता का कारण इन टीकाग्रंथों को मानते हुए उनका संबंध इस्लाम की चुनौती को मानते हैं, वहाँ शुक्ल जी उसके मूल में नाथपंथियों तथा सिद्धों को देखते हैं । निष्कर्ष दोनों में एक हैं, कारण अपने-अपने । नाथपंथियों तथा सिद्धों पर भी द्विवेदी जी टिप्पणी करते हैं और मजे की बात यह है कि वह आचार्य शुक्ल की टिप्पणी से भिन्न नहीं है । शुक्ल जी के अनुसार सिद्धों तथा नाथपंथियों का उद्देश्य कर्म को तंग गड्ढे से निकालकर प्रकृत धर्म के खुले क्षेत्र में लाना न था, बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था । 'जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण' और लोककल्याण विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने लगे । सामान्य अशिक्षित जनता या अर्द्धशिक्षित जनता पर इनकी बानियों का प्रभाव इसके अतिरिक्त क्या हो सकता है कि वह सच्चे शुभकर्मों के मार्ग से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र-तंत्र और उपचारों में जा उलझे, और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियों पर जा जमे ।'

द्विवेदी जी भी लगभग ऐसा ही कुछ कहते हैं - ''ऐसी ही स्वाधीन चिन्ता की कुण्ठा के समय बौद्ध और सिद्धों ने अपनी अक्खड़ शैली में बाह्यचार और निरर्थक रूढ़ियों का विरोध किया, परन्तु उनके पास देने लायक कोई नई सामग्री नहीं थी, केवल अर्थहीन आचारों का विरोधभर करते रहे ।''

यदि हम दोनों विद्वानों के कथनों को साथ-साथ देखे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि अर्थहीन आचारों की प्रधानता आदि काल में भी थी और आगे भी वह मुसलमानों के आगमन के बाद बढ़ती गई । इसका साक्ष्य निर्गुण संतों की रचनाएँ देती हैं जिनमें उनका कड़ा विरोध है । आदिकाल में और फिर बाद को जो इस प्रकार के कर्मों को स्मार्ट जनता के बीच बढ़ावा मिला वह बिना धार्मिक ग्रंथों के संभव न था । इस संदर्भ में हमें यही समझ रखनी चाहिए । सिद्धों और नाथों ने इन विधानों में जो गुणात्मक परिवर्तन किया, वह तंत्र और मंत्र में उलझाने वाला था तथा इस्लाम ने इनमें जो बदलाव किया वह इन्हें फिर अपने तंग कर्मों के रास्ते पर पहुँचाने वाला था । यही दोनों का अंतर है । यही वह समय था जब दक्षिण से आई भक्ति ने उत्तर को धक्का दिया । मुसलमानों के आगमन के बाद भारतीय समाज व्यवस्था कर्मकाण्ड जातिपाँति और ऊँच-नीच की किन संकीर्णताओं में जा फँसी और उसका क्या परिणाम हुआ इसकी चर्चा हजारी प्रसाद जी करते हैं । शुक्ल जी यहाँ मौन हैं । द्विवेदी जी लिखते हैं - ''इस देश की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर इसकी बड़ी ही कठोर प्रतिक्रिया हुई । भारतीय समाज धीरे-धीरे अपनी आत्मरक्षा के लिए अपने आपमें सिमट गया । ऊँची समझी जानेवाली जातियों में सुरक्षित स्थान में पहुँच कर अपनी विशेषता बनाए रखने का उद्योग शुरू हुआ और देश-विशेष के नाम से अपना परिचय देने की प्रथा चल पड़ी ।'' फिर वे आगे लिखते हैं - ''जाति-पाँति के कुफ्र को तोड़ने वाले धर्म संप्रदाय में आने के बाद हिन्दुओं की जाति-पाँति की प्रथा और संकीर्ण हो गई । इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत-सी जातियाँ छँट गई ।'' और बहुत दिनों तक 'ना हिन्दू न मुसलमान' बनी रही । पाशुपत मत को मानने वाली बहुत-सी जातियाँ और संन्यासी से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगीं । उन्होंने कबीर, दादू, जायसी, अब्दुल रहमान को इस प्रकार की जाति का या नाम मात्र का मुसलमान घोषित किया है और बताया है कि आश्रम भ्रष्ट संन्यासियों, गृहस्थ योगियों के मुसलमानों में रूपान्तरित होने के समय ही ये पैदा हुए थे, इसलिए योगियों के काफी संस्कार उनमें थे । द्विवेदी जी के इस तर्क में बहुत वजन नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि जिन योगियों के प्रबल संस्कारों को देखकर द्विवेदी जी ने इनकी पूर्ववर्ती जाति युगी का अनुमान किया है उस समय इनसे भी ज्यादा गया गुजरा एक वर्ग और था जिस पर इतना ही प्रबल या कुछ कमोबेश

योगियों, सिद्धों-नाथों का प्रभाव दिखाई पड़ता है, लेकिन न तो वह योगी है न रूपान्तरित मुसलमान । रैदास, नामदेव, मलूकदास ऐसे ही लोग हैं जो जाति के निम्न हैं, योगियों से प्रभावित हैं, उसी प्रकार जैसे कबीर, फिर कबीर, दादू आदि अपने को कभी युगी घोषित भी नहीं करते । ऐसी स्थिति में आचार्य द्विवेदी की बात बहुत वजनदार नहीं लगती । हमारी दृष्टि में इसका प्रधान कारण यह हो सकता है कि उस युग में जो परिवेश था वह योगियों के सामाजिक, धार्मिक प्रभुत्ववाला था और उससे न तो उस समय की सामान्य जनता बच पाती है ना ही कबीर, दादू, रैदास, मलूकदास आदि । ऐसी स्थिति में इस समान या सामान्य प्रभाव की अनदेखी करके और सबके बीच से केवल कबीर, दादू, अब्दुल रहमान जैसों को ही युगी जाति से जोड़ने का कोई तात्विक आधार नजर नहीं आता । वस्तुत: तत्कालीन समाज व्यवस्था में उच्च वर्गों के बरअक्स अपमानित निम्न वर्गों के पास इसके अलावा कोई उपाय न था कि वे अपनी अस्मिता को बचाने और हीन भावना से उबरने के प्रयास में नाथों और सिद्धों के पास जाता, उनके प्रभाव में आता और उच्च वर्गों के प्रति उनके खण्डनात्मक विचारों तथा योग आदि को ग्रहण करता । यह तो आगे चलकर भक्ति के संस्पर्श से खण्डनात्मक वृत्ति तथा योग आदि की बातें पृष्ठभूमि में गई । उच्च वर्ण यदि नाथों, सिद्धों से अप्रभावित हुआ तो उसका कारण मूलत: यह था कि उसके पास सामाजिक दृष्टि से एक सम्मानास्पद वर्णगत जातीय आधार था । यह आधार उस समय बहुत रूढ़ रूप में था, लेकिन था तो ।

नाथों सिद्धों की उत्तर भारत के पंडित वर्ग पर क्या प्रतिक्रिया हुई । इस संबंध में शुक्ल जी और द्विवेदी जी के विचारों को जानना भी आवश्यक है । शुक्ल जी लिखते हैं -

''शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों, योगियों की बानियों का कोई असर न था । वे इधर-उधर पड़े अपने कार्य करते जा रहे थे । पंडितों के शास्त्रार्थ होते थे, दार्शनिक, खण्डन-मण्डन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे । विशेष चर्चा वेदान्त की थी ।''

आचार्य द्विवेदी का इस बारे में अभिमत है -

''बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण है शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वेदान्तिक और मीमांसक आचार्य । ये आचार्य गण दार्शनिक पंडित थे । इनकी प्रतिभा और विद्वता अनुपम थी ।'' अत: इनके द्वारा बौद्ध धर्म के निर्वासन और निरसन का यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धिजीवियों और उपरले लोगों के मन से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्तिजाल के प्रति आस्था उठ गई । ये असल में बौद्ध तत्त्ववाद के कोई कायल थे, भक्तिवाद के नहीं, पर साधारण जनता का तत्त्ववाद से कोई संबंध नहीं था । (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 16) ।

वस्तुत: शुक्ल जी और द्विवेदी जी के विचारों को निष्पक्षता से देखें तो उनमें बहुत तात्त्विक अंतर नहीं दिखाई देता । शुक्ल जी ने जिन नाथों और सिद्धों की बात की है, वे वज्रयानी सिद्ध या फिर बौद्धों और शैवों के मिले-जुले रूप से बने नाथपंथी योगी थे । शुक्ल जी पंडित वर्ग पर इनके नगण्य प्रभाव की चर्चा करते हैं । द्विवेदी जी का अभिमत भी यही है, हाँ वे बात को आगे बढ़ाते हुए यह भी कहते हैं कि निरसन का कारण बौद्ध धर्म के ऊपर से आस्था का उठ जाना था । द्विवेदी जी ने इस क्रम में एक बात और कही है जो शुक्ल जी के यहाँ नहीं है । वह यह कि वे बौद्धधर्म के तत्त्ववाद के कायल थे, लेकिन उनके भक्तिवाद के नहीं । निश्चय ही यह बात सच है पर बौद्ध तत्त्ववाद से अपने इस कायल होने का उपयोग या तो उन तत्त्वों को अपने भीतर पचाने में या अपने पक्ष में धनात्मक रूप से इस्तेमाल करने में किया । या फिर उनकी कांट-छांट कर या खण्डन कर अपना मत स्थापित करने में किया ।

इस प्रकार दोनों ही आचार्य इस्लाम के प्रति सही दृष्टिकोण रखते नहीं लगते । यदि शुक्ल जी भक्ति-आंदोलन

को इस्लाम की प्रतिक्रिया में प्रवर्तित मानने के कारण सांप्रदायिक आग्रह के शिकार हुए हैं, तो द्विवेदी जी इस्लाम के प्रभावों के प्रति बहुत कुछ अस्वीकार की मुद्रा अपनाकर उसी आग्रह के घेरे में आ गए हैं । इस प्रकार से देखा जाए तो दोनों एप्रोचों के पीछे मूल दृष्टि से लगभग एक ही है ।

जहाँ तक आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के विवाद का संबंध है, आचार्य द्विवेदी ने यह स्वीकार किया है कि अपनी स्थापनाएँ देते समय वे अपने युवा उत्साह के तहत आक्रामक जरूर हो गए हैं । उनकी यह स्वीकृति उनकी विनम्र विद्वता का साक्ष्य है ।

आगे चलकर बजाय इसके कि भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य के समाजार्थिक पहलुओं को उभारते हुए दोनों आचार्यों के प्रदेय के बारे में संतुलित निष्कर्ष निकाले जाते, उनसे संबंधित विवाद को हवा देने की कोशिश ही अधिक हुई । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कृष्णाश्रय प्रकरण का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी के मत को सही सिद्ध करना चाहा । डॉ० रामविलास शर्मा तथा डॉ० नामवर सिंह ने क्रमशः आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी का पक्ष लेते हुए उनकी स्थापनाओं को अपने-अपने ढंग से सही सिद्ध करना चाहा और इस क्रम में तमाम सारे प्रश्न फिर से उठाए । परिणामतः भक्ति-आंदोलन और भक्तिकाव्य का सही सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू पृष्ठभूमि में ही दबा रहा । जरूरत इसे भक्तिकाव्य की पीठिका पर अंतः साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य, दोनों की संगति में पहचाने और उभारने की है ।

7.3 अभ्यास के प्रश्न

1. आचार्य शुक्ल के भक्ति आंदोलन संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए ।
2. आचार्य शुक्ल के विचारों पर द्विवेदी की टिप्पणी का उल्लेख कीजिए ।

भक्तिकालीन परिवेश या परिस्थितियाँ

पाठ संरचना

8.0 उद्देश्य
8.1 परिचय
8.2 राजनीतिक परिस्थिति
8.3 सामाजिक परिस्थिति
8.4 सांस्कृतिक परिस्थिति
8.5 धार्मिक परिस्थिति
8.6 साहित्यिक परिस्थिति
8.7 अभ्यास के प्रश्न

8.0 उद्देश्य

कतिपय विचारकों ने भारतीय भक्ति-आंदोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम और मुस्लिम राज्य-प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया मानते हुए हिन्दी साहित्य में भक्तिकालीन प्रवृत्तियों के आविर्भाव को राजनीतिक पराजय का परिणाम कहा है । वस्तुत: किसी भी काल के साहित्य निर्माण में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ ही सहायक होती हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिकाल के आरंभ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं; जिससे प्रभावित होकर काव्य क्षेत्र परिवर्तित हो गया । इस इकाई का उद्देश्य उपर्युक्त परिस्थितियों से छात्रों को परिचित कराना है ।

8.1 परिचय

अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किसी काल के साहित्य का निर्माण होता है । भक्तिकाल के प्रारंभ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया । मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने पर आरंभिक कालीन वीर-भावना लुप्त हो गई और भिन्न भाषा-भाषियों एवं विधर्मी मुस्लिम शासकों के अत्याचार बढ़ने लगे । मुस्लिम दरबारों की राजभाषा फारसी बन गई, काव्य को राज-दरबार से हटकर विरक्त साधुओं की कुटिया में आश्रय प्राप्त हुआ । वास्तविकता यह थी कि भारत की आध्यात्मिक कविता की परम्परा जो कुछ समय से दब गई थी, धार्मिक आचार्यों और साधुओं का सहयोग पाकर पुन: उभर आई ।

8.2 राजनीतिक परिस्थिति

हिन्दी साहित्य में भक्तियुग के उदय के समय तक अर्थात् पन्द्रहवीं सदी के आरंभ तक उत्तर भारत में मुस्लिम

साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी । इससे पूर्व का युग भयंकर अराजकता का युग रहा था । मुसलमान निरन्तर आगे बढ़ते रहते थे और हिन्दू राजा इनका परिरोध करते तथा स्वयं आपस में भी लड़ा करते थे । इसलिए शासन की व्यवस्था अस्त-व्यस्त रही । जब मुसलमानों का साम्राज्य जम गया और हिन्दू राजा छुट-पुट प्रतिरोध करने तक ही सीमित रह गए तो मुसलमानों में परस्पर विग्रह आरंभ हो गया । नावगत मुसलमानों और पहले से आए हुए अफगानों में परस्पर ठनने लगी । इस समय तक मुसलमानों का सारा ध्यान और शक्ति भारत में अपना दृढ़ शासन स्थापित करने में लगी रही थी, इसलिए वे इस्लाम के प्रचार की ओर ध्यान नहीं दे पाए थे । कूटनीति उन्हें इस बात के लिए प्रेरित करती थी कि वे यहाँ के स्थायी निवासियों-हिन्दुओं से घनिष्ठ संपर्क स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त करने में सफल हो सकें । इसलिए वे हिन्दू राजाओं से सहयोग प्राप्त कर अपने ही सहधर्मी, परन्तु भिन्न जातीय मुस्लिम शासकों से युद्ध करते रहे । पठान शेरशाह सूरी और मुगल हुमायूँ का युद्ध इसका प्रमाण है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पन्द्रहवीं सदी या उसके बाद का उत्तर भारतीय इतिहास-शांति और चैन के युग का इतिहास है । इस युग में इतना अन्तर अवश्य आ गया था कि अराजकता की मात्रा में कमी आ गई थी और मुस्लिम शासक देश में सुचारू शासन व्यवस्था स्थापित करने की ओर अधिक ध्यान देने लगे थे । शासन-व्यवस्था सामंती ढाँचे की थी, इसलिए उसमें शक्ति शासकों के हाथ में रहती थी, प्रजा चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, पीड़ित और परेशान रहती थी ।

इस संबंध में यह आलोचनीय है कि भक्ति काव्य का चरम विकास हमें मुगल साम्राज्य के समय में ही होता हुआ मिलता है । अकबर से शाहजहाँ तक समय अपेक्षाकृत अधिक शांतिपूर्ण और सुशासित रहा था और हम इसी काल में भक्ति का चरम उत्कर्ष पाते हैं । इसलिए इस बात को दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि भक्ति का उद्‌भव राजनीतिक और धार्मिक अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं हुआ था । इसके लिए तो सैंकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे । हम भक्ति के इस चरम उत्कर्ष काल में एक नई बात और देखते हैं, जो यह सिद्ध कर देती है कि मुसलमानों द्वारा किये जानेवाले अत्याचारों की कल्पना कितनी थोथी और सारहीन है । इस युग में अवतार को माननेवाली दृष्टि में परिवर्तन हो चुका था । पूर्ण विश्वास के अनुसार भगवान साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के अवतार धारण करते थे, परन्तु भक्ति के इस युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि "भगवान के अवतार का मुख्य हेतु-भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है । भक्त भगवान के चरित्र का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से ही करते हैं । भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य 'एकान्तिक भक्ति ही है । कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ समझता है । मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी एकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है ।

तुलसी ने 'विनय पत्रिका' में सभी देवी-देवताओं से राम की भक्ति की ही याचना की है । उन्होंने राम से यही याचना की है कि यह कलिकाल मुझे बहुत सताता रहता है, इसलिए इनसे मेरी रक्षा कीजिए । उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि भारतभूमि विधर्मी मुसलमानों द्वारा त्रस्त है, इसलिए उनसे यह पवित्र भूमि की रक्षा कीजिए ।

इस काल में वीरगाथाओं का अभाव इस कारण रहा है कि जब हिन्दू राजा पराजित हो चुके थे तो फिर कविगण किसकी वीरता का गान करते । वैसे आरंभिक काल में भी हमें वीरगाथाओं की प्रचुरता नहीं मिलती, जबकि भारत पर मुस्लिम आधिपत्य स्थापित नहीं हो पाया था । वीरगाथाओं की तो अपनी एक लम्बी परंपरा रही है जो 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर आधुनिक 'हल्दीघाटी' तक प्रवाहित होती चली आई है । साहित्य में उस वीर-भावना का पूर्ण आधिपत्य आरंभ से लेकर आज तक कभी भी नहीं रहा है ।

8.3 सामाजिक परिस्थिति

सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं की जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना वही थी जो कई सदियों पूर्व से चली आ रही थी और ऊँच-नीच की इसी भावना ने उस धार्मिक विद्रोह को जन्म दिया था, जो आरंभ में कबीर आदि निर्गुण भक्तों की वाणी में गुंजरित हो उठा । हिन्दुओं का उच्च वर्ग अहंकारी और विलासी थी । सामन्ती व्यवस्था में सदैव यही होता आया है । अमीर अत्याचार करते हैं और गरीब अत्याचार सहते हैं । परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि कबीर, तुलसी आदि सामाजिक दृष्टि ले जागरूक कवियों ने कहीं भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । तुलसी ने अवश्य इसके प्रति संकेत किया कि राजा जब अत्याचारी हो जाता है तो प्रजा के कष्टों की सीमा नहीं रहती । कबीर आदि ने धार्मिक ढोंगों और आडंबरों का ही अधिक उल्लेख किया है । इससे यह प्रकट होता है कि उस युग में धर्म पर ब्राह्मण का आधिपत्य था और उसने धर्म की आड़ में समाज के निम्न वर्ग को सताने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी । यह स्थिति केवल हिन्दू-धर्मध्वजों की ही अकेली नहीं थी, बल्कि इस्लाम में भी यह धार्मिक आडम्बर प्रवेश कर चुका था । इसी कारण कबीर ने इस धार्मिक मक्कारी के लिए हिन्दू-मुस्लिम दोनों को ही समान रूप से फटकारा था ।

भक्तिकाल के प्रथम चरण में हम सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होता हुआ पाते हैं । मुगल-पूर्व युग के मुस्लिम शासक, सामन्त और उसके अधीनस्थ कर्मचारी अवश्य अत्याचारी थे । हिन्दू शासित थे, इसलिए शासक जाति के लोग उन्हें हीन समझ उनपर अत्याचार करते थे, उनकी बहू-बेटियों का अपहरण करते रहते थे । बलात् धर्म-परिवर्तन भी होता रहता था । मुस्लिम शासकों के यहाँ हजारों औरतों वाले हरम रहते थे, जिनमें चुन-चुनकर सुन्दर युवतियों को इकट्ठा किया जाता था । इस स्थिति से त्रस्त हो, हिन्दुओं ने सामाजिक रूप से अपने को संकुचित दीवारों में घेरना प्रारंभ कर दिया । मुस्लिम शासकों की नजरों से अपनी स्त्रियों को बचाने के लिए पर्दा-प्रथा को अपनाया और फिर बाल-विवाह होने आरंभ हो गए । हिन्दुओं ने सामाजिक दृष्टि से मुसलमानों को अपने से दूर रखने में ही अपना कल्याण समझा । इससे खान-पान, छुआछूत के बन्धन और कठोर हो गए और कालान्तर में इन कठोर सामाजिक बंधनों ने स्वयं हिन्दू जाति की सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक संकीर्ण बना दिया । उसके आपसी जाति-भेद ने और उग्र रूप धारण कर लिया । धर्म के द्वार विधर्मियों और स्वधर्मी निम्न जाति के लिए बन्द कर दिए गए । हम कबीर में हिन्दुओं की इसी सामाजिक संकीर्णता का स्पष्ट विरोध होता हुआ देखते हैं ।

हम इस युग के सामाजिक क्षेत्र में दो परस्पर भिन्न संस्कृतियों और विचारधाराओं का स्पष्ट संघर्ष देखते हैं । हिन्दू संस्कृति अपनी पूर्णता और प्राचीन परम्परा का दंभ लिए अपनी अस्तित्व रक्षा का प्रयत्न कर रही थी और दूसरी ओर नवीन धार्मिक उन्माद से ओत-प्रोत मुस्लिम-संस्कृति उस पर हावी होना चाह रही थी । इससे हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर घृणा भाव बढ़ रहा था । अपनी रक्षा की भावना ने हिन्दुओं के सामाजिक बंधनों को दृढ़ और संकीर्ण बना दिया था । इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई थी । उस युग के प्रतिभाशाली सन्त कवियों को यह संकीर्णता अखरी । उन्होंने आध्यात्मिकता के बल पर जिनमें शास्त्रों का बन्धन स्वीकार्य नहीं था; संकीर्णता का डटकर विरोध किया और इसी के लिए कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौराहित्य स्वीकार कर विरोध के स्वर को तीखा बना दिया । यद्यपि इस चेतना का आदि स्रोत बना नहीं था ।

बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक संकीर्णताओं का विरोध होना प्रारंभ हो गया था । रूढ़ और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ उदार और संकीर्ण होती हुई विद्रोह की यह लहर

जनजीवन के साथ बहती चली आई थी । कबीर ने इस विद्रोह भावना से आत्मविश्वास की दृढ़ता को दूर कर उसे समता की दृष्टि प्रदान की । इस प्रकार विशुद्ध मानवता और सामाजिक न्याय की भावना के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ, जिसमें सभी प्रकार के आडम्बरों का उन्मूलन कर सभी को उसकी गोद में समेट लेने की तीव्र आकांक्षा थी । सन्त कवियों के इस पुनीत कार्य में मुस्लिम सूफी कवियों ने भी पर्याप्त योग दिया । इन दोनों ने मिलकर हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति तथा धार्मिक भावना में संतुलन और समन्वय लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया । इनके इस नवीन ऐतिहासिक प्रयास के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के सम्मिलन से निर्गुण उपासना की ऐसी नवीन पद्धति को जन्म मिला, जो सब के लिए समान रूप से ग्राह्य थी और जो अनेक प्राचीन और नवीन धार्मिक मत मतान्तरों वादों और विचारधाराओं को अपने भीतर समेट कर आगे बढ़ी थी ।

8.4 सांस्कृतिक परिस्थिति

सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक विचारधारा के माध्यम से हुई है । कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं । इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज है जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवनयापन करता है । भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं । परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवन शक्ति का संचार भी होता रहा है कि हम डूबते-डूबते भी उबरते चले आए हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नवजीवन की अरूणिमा से महिमा-मण्डित होते रहे हैं । इन सबके मूल में हमारी समन्वय-साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है, जो ब्राह्मण युग से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थी । दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी । वैदिक देवी-देवताओं के बाह्य विधानों से बिदककर श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पंथ खोज निकालने का यत्न किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर दोनों ही क्षयमान हो गए । मौर्य-साम्राज्य के बिखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नए ओज और तेज के साथ अभ्युत्थान हुआ । पुष्यमित्र के शासन काल में समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रों-स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ-ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई ।

परवर्ती गुप्तकाल में वैदिक धर्म का पुनरूत्थान हुआ और देवी-देवताओं तथा देवालयों की स्थापना द्वारा लुप्तप्राय धर्म-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया । उन दिनों वैष्णव धर्म को विशेष प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और स्मृति ग्रंथों में लोक प्रचलित विश्वासों तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया गया । ब्राह्मणेत्तर श्रमणादि तत्त्वों से समन्वित ब्राह्मणवाद को विद्वानों ने नवब्राह्मणवाद कहा, जिसका स्वरूप वैदिक परम्परा से विच्छिन्न न होकर भी भिन्न अवश्य था । सत्य तो यह है कि ब्राह्मणवाद का भी अमिश्रित रूप में पुनरूत्थान नहीं हुआ था । दूसरों के अनेक मत-विश्वास उसमें समाहित थे । इसी प्रकार नव ब्राह्मणवाद में भी ब्राह्मणवाद के अतिरिक्त श्रमण, द्रविड़ तथा अन्य आदिवासियों के मत और मान्यताएँ परस्पर एकीभूत हो गई थीं । इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं - 1. धर्मविशेष का लौकिकीकरण, 2. अवतारवाद की स्वीकृति, 3. देवालयों में देव प्रतीकों की पूजा, 4. तीर्थादि की स्थापना, तथा 5. धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण । अधिकांश पुराणों की रचना का भी यही काल है । मध्यकालीन हिंदू जीवन प्रणाली पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा । पुराणकारों ने समन्वय साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया । परम्परागत दृष्टिभेद, रुचि वैविध्य, देशकाल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने तद्नुरूप पूजा-उपासना तथा कर्मकाण्डीय पद्धतियों को अपनाकर उनमें दार्शनिकता का पुट दे दिया । मूर्ति पूजा, तीर्थाटन अवतारवाद, गो-ब्राह्मण-रक्षा, धर्मशास्त्रों का सम्मान और कर्मफल में विश्वास पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएँ थीं, जिनमें लोक विश्वास का भी

योगदान रहा । साधु-संन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग-नरक, श्राद्ध-पिण्डदान आदि इस युग की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवनचक्र चलता रहा और इस्लाम के भारतप्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा ।

मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं-एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है । यह दूसरा ही पौराणिक पक्ष है । परन्तु हम बहुधा यह पाते हैं कि दोनों पक्षों में परस्पर अन्तरावलम्बन है । कभी जनघोषित विश्वास शास्त्रसम्मत बन जाते हैं, तो कभी शास्त्रविहित मान्यताएँ जन्ता द्वारा अस्वीकृत हो जाती है । शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है । इसी आस्था के कारण विपक्षी अथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुता भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारंभ होता है । हमारे यहाँ आध्यात्मिक उपलब्धि हो जीवन का परिष्कार माना गया है, जिसके कारण धर्मानुभूति और दार्शनिक चिन्तन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध जुड़ गया है । उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य है और इसी आधार पर वेदान्त भी विकसित हुआ है । औपनिषदिक विचारों में भी सर्वत्र मतैक्य नहीं है । इनमें समन्वय की स्थापना के लिए बादरायण ब्रह्मासूत्रों की रचना की गई, जिसपर शंकराचार्य ने 'शारीरिक भाष्य' लिखा । इस भाष्य में निरूपित व्याख्या का इतना महत्त्व हो गया कि सर्वसाधारण में वेदान्त का अर्थ केवल शांकर वेदान्त समझा जाने लगा । इसमें शब्द प्रमाण को मुख्य रूप से उसे तर्क द्वारा पुष्ट करने का यत्न किया गया है । शंकराचार्य की ही भाँति कुमारिल भट्ट ने भी हमारी चिन्तनधारा को दूर तक प्रभावित किया है । परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या प्रति व्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की । इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों-के-त्यों रह गए हैं ।

ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है । जाति, कुल, देश-काल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना धर्म है । धर्माचार अथवा नैतिकता समाजपरक है और धर्मसाधना व्यक्तिनिष्ठ । साध्य और साधक का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है । साधना का विकास रुचि, शिक्षा और संस्कार के अनुसार कई रूपों में होता है । स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं । - देवाराधन संस्कार-मूलक क्रिया और नित्य नैमित्तक कर्म । देवराधन के भी दो रूप हैं - आत्मविश्वास मूलक योग और आराध्यानुग्रहमूलक भक्ति । आत्मरक्षा की वृत्ति ने मनुष्य को देवराधन की ओर प्रवृत्त किया, फलस्वरूप कल्याणकारी शक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करके उन्हें मानवीय इच्छाओं, उद्देश्यों, विचारों तथा संवेदनाओं से सम्पन्न तथा भावापन्न मान लिया गया । भगवान के सगुण और साकार रूप का इसी प्रकार विकास हुआ ।

शक्ति सम्पन्न समर्थ व्यक्तियों की मरणेत्तरकालीन आत्माओं को अलौकिकता प्रदान कर उन्हें कल्याणप्रद शक्तियों से सम्बद्ध कर देने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । कुलदेवता और ग्राम देवता इन्हीं की उपज है, जिनके प्रतीक पिण्ड तथा पदार्थ बने । इसी प्रकार सशक्त तथा सहायक पशु-पक्षियों की आत्माओं टोटेमवाद और फिटिशवाद का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें भौतिक आपदाओं का कारण मान लिया गया और उनकी तुष्टि के लिए यातु-विद्या तथा जटिल साधना विधान का विस्तार हुआ । संस्कारग्रत जनता में आज भी भूत-प्रेत, पिशाच-चुड़ैल, डाकिनी-शाकिनी तथा उनसे त्राण दिलानेवाले ओझा आदि के झाड़-फूँक, गण्डा-ताबीज और मन्त्र तंत्र की मान्यता पाई जाती है । साध्य की अपेक्षा साधना पर अधिक बल दिया जाने लगा है जो कभी-कभी जड़ता को जन्म दे देती है । इसीलिए साधना के विकृत

और विस्तृत रूप (कर्म-काण्डादि) की आलोचना उपनिषदकाल से लेकर श्रमणयुग तक होती रही, जिसे हम सन्तवाणियों में मुखर पाते हैं ।

मध्यकाल में हिन्दू-समाज की वृहत्तर इकाई गाँव था और लघुतर इकाई परिवार, जो जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था । अयोग्य पति की पत्नी होकर भी नारी सम्बन्ध निर्वाह करने को बाध्य थी । सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी और उसकी सन्तान से बना हिन्दू समाज मध्यकाल की विडंबना बना रहा ।

उपर्युक्त विकास क्रम को ध्यान में रखे बिना मध्यकालीन संस्कृति की प्रवृत्ति और परिवेश को ठीक-ठीक समझ पाना प्रायः असम्भव है । इस काल में धर्म-साधनों की बाढ़-सी आ गई और गुह्य साधनाओं के अन्तर्गत कृच्छ्र साधनाएँ भी प्रवेश पा गई । धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्यभिचार तक पलने लग गया । फलस्वरूप ज्ञान चर्चा की आड़ में पाखण्ड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गई ।

बाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्डादि बाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे । ऐसी परिस्थिति में गुरु गोरखनाथ ने बाह्य साधनों को गौण ठहराकर मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझा : ''अवधू मन चंगा कठौती में गंगा, बौध्या मेल्हा तो जगत चेला ।'' कबीरादि सन्तों की चेतना भी प्रकारान्तर से मन की महत्ता को स्वीकार करती जान पड़ती है :

कहे कबीर कृपा भई; गुरु ज्ञान कहा समझाई ।
हृदय श्री हरि भेटिये, जो मन अनतै नहि जाई ।।

मध्यकालीन धर्म-साधना में प्रायः पूर्ववर्ती प्रमुख धर्म-साधनाएँ किसी-न-किसी रूप में पाई जाती हैं । अपने मूल रूप में अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ । बृहदारण्यकोपनिषद् (02.04.11) के वेदमार्गी 'एकायन' धर्म तथा लोकधर्मी 'लोकायन' धर्म जैसी कुछ अन्य धर्म साधनाएँ भी अवश्य रही होंगी, जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे । फिर भी शैव, शाक्त, भागवत (वैष्णव), सौर, गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों के न्यूनाधिक अनुयायी पाये जाते थे जिनमें ज्ञान, योग-तंत्र अथवा भक्ति की प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं । ज्ञान में तप और चिन्तन-मनन की प्रधानता थी और योग-तंत्र में क्रियात्मक विशेषताएँ पाई जाती थीं । शिव आदि योगी माने जाते थे और पूर्व-मध्यकाल में शैव धर्म भारतव्यापी बन गया था जिसे राजाश्रय के अतिरिक्त लोकाश्रय भी प्राप्त था । इसके प्रमाण शिलालेखों द्वारा भी सुलभ है । योग का किसी समय इतना प्रबल प्रभाव था कि ज्ञान और भक्ति के साथ 'योग' शब्द का जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा था । भक्ति और ज्ञान-साधना में योग का कोई-न-कोई तत्त्व ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है । यहाँ तक कि बौद्ध-जैन तक इससे अप्रभावित न रह सके थे । भक्ति मुख्यतः भावनामूलक थी । अन्य धर्मों में भी इसका एक-न-एक रूप पाया जा सकता था । परन्तु इसका जितना बहुविध विकसित रूप वैष्णव धर्म-विशेषतः भागवत सम्प्रदाय में लक्षित हुआ उतना कदाचित् अन्यत्र संभव न हुआ । विभिन्न धर्मों अथवा सम्प्रदायों के बीच भी अनेक धर्मों या उप-सम्प्रदायों का बनना मध्यकालीन विशेषता बन गई थी ।

मध्यकाल में अरुचि और संस्कार का प्राधान्य था । इस कारण बहुधा सामंजस्य बिगड़ जाता था और संतुलन बनाए रखने के लिए बार-बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था । समन्वय हमारे संस्कार में था, इसलिए उसे लाने में विघ्न-बाधाओं के रहते भी दुर्लभ कठिनाई नहीं होती थी । वैदिक वाङ्मय में इसके बीज मिलते हैं । 'तन्त्रालोक' में भी इसका उल्लेख है : ''एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम् ।'' (88/1) 'शक्ति-संगम-तन्त्र का यह उद्धरण भी ध्यातव्य है :

कदाचिट्टात्म ललिता: पुरुपा कृष्णविग्रहा ।
लोक सम्मोहनाथथि स्वरूपं विभ्रती परा ।।

''दुर्गासप्तशती (11/5) में भी भगवती दुर्गा और वैष्णवी को अभिन्न ठहराया गया है । 'अध्यात्म रामायण' में राम तथा शिव के बीच परस्पर भक्ति प्रदर्शित की गई है । यही भावना 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में शिव और श्रीकृष्ण के मध्य व्यक्त हुई है । परवर्ती रचनाओं में ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध हैं । 'साधनामाला' में वर्णित बौद्ध देवता पद्मनूत्तेश्वर भी शिव का रूपांतर ही जान पड़ता है । इसी प्रकार उड़ीसा के पंचसेवाओं का 'शून्य पुरुष' ब्राह्मण श्रमण-संस्कृतियों के मिलन की ओर संकेत करता है । मध्यदेश के नाग राजाओं द्वारा अवलोकितेश्वर की पूजा शिव-पूजन की भाँति हुआ करती थी । एलोरा के समीपस्थ वेरूल के कैलास-मंदिर में शिव की मूर्ति के शीर्षस्थान पर बोधिवृक्ष स्थित है । चम्बा नरेश अजयपाल के राज्यकाल में उत्कीर्ण ब्रह्मा, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है । इसी प्रकार हरिहर पूजन में भी शैव-वैष्णव धारा का संगम लक्षित होता है । संक्षेप में ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है । भक्ति-आन्दोलन का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ था ।

8.5 धार्मिक परिस्थिति

भक्तिकाल के आरंभिक युग की सामान्य धार्मिक स्थिति अनेक मतों, सम्प्रदायों और धर्मों के परस्पर विरोधी रूपों से आक्रान्त थी । एक ओर हम सिद्धों-नाथों की विचारधाराओं से प्रेरित विभिन्न सम्प्रदायों को परम्परागत वैदिक धर्म की अवहेलना करते और योग-सिद्धि के चमत्कारों द्वारा जनता को प्रभावित करने का प्रयत्न करते देखते हैं । दूसरी ओर वैष्णवों, शैवों और शाक्तों में व्याप्त असहिष्णुता और विरोध की भावना पाते हैं । इसके साथ ही हम इस्लाम के विद्रोही - सूफियों - को एक ऐसे धर्म या उपन्यास मार्ग का प्रवर्तन करते हुए देखते हैं जो धर्म के सम्पूर्ण बाह्य परिधानों को एक ओर हटा, केवल प्रेम द्वारा ईश्वर की उपासना करने में आस्था रखता है । यहाँ हम तीनों प्रकार की धार्मिक भावनाओं को एक-एक कर विस्तारपूर्वक समझने और समझाने का प्रयत्न करेंगे ।

बौद्ध-धर्म यद्यपि सामाजिक न्याय की मांग लेकर जनता के सामने आया था, परन्तु आगे चलकर परम्परागत वैदिक धर्म के प्रभाव से अपने को मुक्त रखने में असमर्थ रहा । इस प्रभाव के फलस्वरूप उसके दो विभाग हो गए - हीनयान और महायान । हीनयान धर्म की दार्शनिक व्याख्या करने में ही व्यस्त रहा, इसीलिए अपनी दार्शनिक जटिलता के कारण धीरे-धीरे जनता से दूर होता चला गया । उसकी चिन्तन-पद्धति पर औपनिषदिक चिन्तन-पद्धति का गहरा प्रभाव रहा, इसलिए वह विद्वानों तक ही सीमित होकर रह गया । इसके विपरीत महायान धर्म के व्यावहारिक पक्ष को अपनाकर आगे बढ़ा । महायान ने धर्म के द्वार को सबके लिए उन्मुक्त कर दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि इसमें दीक्षित होने वालों में उन लोगों की संख्या अधिक बढ़ गई जो असंस्कृत, अशिक्षित और निम्न श्रेणी के थे और ऐसा हो जाने पर धर्म का सच्चा रूप तिरोहित हो गया तथा उसके स्थान पर नाना प्रकार के तन्त्र-मन्त्र, अभिचार, वशीकरण आदि के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले चमत्कारों का प्राबल्य बढ़ा । अपने मूल रूप में यह तान्त्रिक साधना ब्रह्म साधना ही थी, परन्तु साधारण जनता इसके चमत्कारों से ही चमत्कृत हो, इसके प्रति आकर्षित हुई । तन्त्र-मन्त्र की प्रधानता रहने के कारण महायान को 'मन्त्रयान' भी कहा गया । वस्तुत: यह मन्त्रयान वाममार्गी साधना का ही दूसरा नाम था । इन्द्रिय साधना के नाम पर इसमें सांसारिक भोगों की अतिशयता द्वारा उनके प्रति विरक्ति भावना उत्पन्न

करने का सिद्धान्त प्रमुख माना गया । इसीलिए इसमें नारी, मदिरा, माँस आदि के अबाध भोग को प्रमुख मान्यता मिली । इसका दूरगामी परिणाम यह निकला कि वाममार्ग व्यभिचार, उन्मुक्त विलास और सांसारिक भोगों का आश्रय-स्थल बन गया । नारी भोग के अभाव में यह वाममार्गी साधना अधूरी मानी जाने लगी ।

कालान्तर में सिद्धों की यह वाममार्गी साधना-पद्धति विकृतियों का शिकार बन गई । इस साधना-पद्धति में भी भोगों की अतिशयता द्वारा विरक्ति उत्पन्न होने का सिद्धान्त प्रधान रहा । इसलिए इसमें भी व्यभिचार का प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक था और वही हुआ भी । इसी विषम स्थिति से क्षुब्ध हो, कालान्तर में, नाथ-पन्थियों ने इसके शुद्धिकरण का नारा बुलन्द किया और जीवन की पवित्रता को प्रधान महत्त्व देते हुए नारी को सर्वथा त्याज्य घोषित कर दिया । इन लोगों ने वाममार्गी भोगप्रधान साधना-पद्धतियों का बहिष्कार कर एक ऐसी सात्विक साधना-पद्धति का प्रवर्त्तन किया, जिसने हिन्दी के सन्तकवियों को गहरे रूप से प्रभावित किया था । हमारा अनुमान है कि इन लोगों के सात्त्विक प्रभाव के कारण ही कबीर आदि की निराकारवादी भक्तिमार्गी साधना-पद्धति विकृतियों से बची रही थी ।

वैष्णव भक्ति का रूप - उस युग में वैष्णव भक्ति भी उत्तर में अपना प्रभाव बनाए हुए थी । यहाँ की जनता विष्णु के विविध अवतारों में आस्था रखती थी । उपनिषदों से पूर्व उपास्य की केवल 'पूजा' की जाती थी । इस पूजा में 'उपासना' की भावना नहीं थी; क्योंकि उपासना किसी स्वरूप की ही की जाती है । इसी 'उपासना' की स्थापना करने के लिए भक्ति-भावना का जन्म हुआ था; क्योंकि उपासना की भावना 'पूजा' की भावना से अधिक व्यापक, गहन, उदात्त और परिष्कृत होती है । इसमें व्यक्तित्व और हृदय का योग रहता है । इसी कारण इसे कर्म से श्रेष्ठ माना गया । कर्म के साथ मन के इस योग में बोधवृत्ति और रागात्मिका-वृत्ति दोनों का ही योग रहता है, अर्थात् उसमें ज्ञान और उपासना, बुद्धि, तत्त्व और हृदय तत्त्व-दोनों का मैल रहता है । आचार्य शुक्ल के शब्दों में - ''जहाँ से कर्म में हृदय-तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति-मार्ग का आरंभ मानना चाहिए ।'' और यही से व्यक्ति के मुख की कामना के साथ-साथ, लोक-कल्याण की भावना का प्रचार बढ़ा ।

गीता में भगवान के जिस उपास्य रूप की स्थापना की गई थी; वह लोक रक्षा और लोकमंगल करनेवाली धर्मशक्ति का स्वरूप था । उसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य और एश्वर्य का समन्वित रूप था । अवतार का हेतु इसी कारण लोक में धर्म की स्थापना करना माना गया था । आगे चलकर गीता के इस भक्ति मार्ग से लोकधर्म-पक्ष या कर्मपक्ष हटता गया और कालान्तर में ऐसे माधुर्यपूर्ण उपास्य को अपनाया जाने लगा जो अत्यंत घनिष्ठ प्रेम का आलम्बन हो सके । भगवान के लोक रक्षक गुण तिरोहित होने लगे । श्रीमद्भागवत में भगवान के इसी माधुर्य रूप की प्रतिष्ठा की गई । इसमें भक्ति के क्षेत्र में एक नया द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ ।

गीता में भक्ति का रूप ज्ञान-समन्वित था । वहाँ मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान द्वारा मानी गई और भक्ति को ज्ञान-प्राप्ति का साधन । परन्तु भगवान में भक्ति को सर्वोपरि प्रधानता प्रदान कर उसे साधन न मान, साध्य माना गया, अर्थात् भक्त मोक्ष की कामना न कर केवल भक्ति प्राप्त करने लगे । तुलसीदास ने विनय पत्रिका में केवल भक्ति की ही याचना की थी । परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि - ''क्या ज्ञान के बिना भी भक्ति संभव है ? इसका उत्तर उपनिषदों में मिल जाता है । वहाँ पहले ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान द्वारा जाने गए ब्रह्म के स्वरूप की ओर हृदय आकर्षित होता है, तभी जीवन की सच्ची साधना आरंभ होती है । ज्ञान द्वारा जाना हुआ ब्रह्म का स्वरूप जैसा होगा, उस स्वरूप का भक्त वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा । इसी कारण भक्ति मार्ग के विभिन्न आचार्य ज्ञानी और भक्त दोनों ही थे । तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में किसी प्रकार का विरोध नहीं माना, उसका यही रहस्य था । क्योंकि

उपास्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्त्व-चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत-पद्धति द्वारा ही हो सकती है और भक्ति उपास्य के उसी स्वरूप की जाती है, इसलिए ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी है । सूर और तुलसी, भक्त और विद्वान दोनों ही थे। इसी कारण वे भक्ति का वह स्वरूप प्रस्तुत करने में सफल हुए, जहाँ कबीर आदि को असफलता ही हाथ लगी ।

आचार्यों ने भक्ति के स्वरूप की स्थापना कर यह भी बताया कि भक्ति की प्राप्ति किन साधनों द्वारा संभव होती है । सभी ने सन्त-समागम, गुरु-सेवा, शास्त्राभ्यास आदि को भक्ति की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना, परन्तु साथ ही यह शर्त भी लगा दी कि ये सारे साधन भगवान की अनुकम्पा होने पर ही सुलभ होते हैं । कुछ भक्तों ने 'गुरु' को भक्ति-साधना का प्रधान अंग माना और कुछ ने तो गुरु को ही साक्षात् पर ब्रह्म मान उसी की उपासना की । उपनिषदों में गुरु-भक्ति को परमात्मा की भक्ति के तुल्य माना गया था । गुरु को माता-पिता, तथा साक्षात् ईश्वर तक बताया गया । भक्ति-साधना में चाहे वह निर्गुण की हो अथवा सगुण की, गुरु की महिमा सर्वोपरि रही है । गुरु-कृपा के बिना ईश्वर भक्ति की प्राप्ति असंभव मानी गई ।

8.6 साहित्यिक परिस्थिति

इस समय संस्कृत-साहित्य में गद्य और पद्य दोनों की सृष्टि हो रही थी । मौलिक काव्य रचना की वृत्ति न्यून रूप में पाई जाती है । प्राचीन ग्रंथों की टीकाएँ और व्याख्याएँ ही गद्य रूप में लिखी जाती थीं । किंतु हिन्दी साहित्य में काव्य-रचना की वृत्ति ही प्रधान थी । गद्य साहित्य का अभाव ही भक्ति साहित्य की दुर्बलता है । कविता का उद्देश्य विशुद्ध कवित्व की स्थापना नहीं था । कविगण दार्शनिक उपदेशक अथवा किसी विशिष्ट मत के प्रतिपादक होते थे। कविता उनके सिद्धांतों की संदेशवाहिका थी । जीवन की सार्थकता भक्त होने में थी, कवि होने में नहीं । साहित्य प्राचीन और नवजात दर्शनों की छाया मात्र था ।

फारसी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी । साहित्य की मुख्य भाषा भी वही थी । संस्कृत का प्रचार श्रेष्ठ वर्ग के लोगों में था । कुछ उदार मुसलमानों ने हिन्दी को भी प्रोत्साहन दिया, किंतु वह न तो फारसी के ही समकक्ष टिक सकती थी और न ही संस्कृत के समकक्ष । डिंगल और पिंगल भाषाओं में टीकाओं और वार्ताओं के रूप में गद्य का भी प्रयोग हुआ, किंतु वह सब गद्य के प्रारंभिक रूप का उदाहरण मात्र है ।

काव्य के रूप में प्रबंध और मुक्तक दोनों थे । दर्शन और संस्कृति काव्य के प्रधान प्रतिपाद्य थे । काव्य के अन्य विषयों में यश: प्रशस्ति, शृंगार और नीति को रखा जा सकता है ।

भक्ति काव्य में मानव जीवन के साथ-साथ चलने की शक्ति है । कबीर, सूर, तुलसी आर्य जाति से घनिष्ठ रूप में संलग्न है । भक्ति साहित्य हिंदी भाषा के उत्कट प्राण-बल का परिचायक है । इतना शाश्वत मूल्य हिन्दी साहित्य के अन्य कालों को उपलब्ध नहीं हो सका । भक्ति का उद्गम स्रोत पुराण ग्रंथों में ढूँढा जा सकता है, क्योंकि भारतवर्ष में भक्ति का अजस्र धारा की परंपरा ही है । भारतीय संस्कृति के प्राणतत्त्व के रूप में भक्ति आदिकाल से ही प्रतिष्ठित रही है जिसकी संक्षिप्त व्याख्या महाभारत और गीता में मिलती है; किन्तु मध्य युग के भक्ति आंदोलन का प्रथम सशक्त प्रवाह दक्षिण से आया इसमें कोई संदेह नहीं । भक्ति-साहित्य के उदय की परिस्थितियों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल का मत "अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?" बिलकुल सही लगता है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक

अविच्छिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना कार्य कर रही थी । अनुकूल अवसर पाकर वह प्रस्फुटित एवं पल्लवित होकर बलवती बनी । इसके मूल में न तो कोई विदेशी प्रभाव कार्य कर रहा था और न राजनीतिक परिस्थिति ही । यद्यपि प्रभाव इन दोनों का था, परन्तु था गौण रूप में ही । दक्षिण की भक्तिधारा ने जिसका आधार शास्त्रीय दार्शनिक विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण भक्ति का, बीजारोपण किया । बौद्ध मतों के ध्वंसावशेषों–सिद्धों एवं नाथों के प्रभाव से एवं उस प्रभाव की प्रतिक्रियास्वरूप निर्गुण धारा का आरंभ हुआ, जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक बातों की अद्‌भुत खिचड़ी कह सकते हैं ।

8.7 अभ्यास के प्रश्न

1. भक्तिकाल के उद्‌भावक परिस्थितियों का विश्लेपण कीजिए ।
2. भक्तिकाल के उद्‌भव के राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का सविस्तार वर्णन कीजिए ।
3. भक्तिकाल के उद्‌भव के सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन कीजिए ।

भक्तिकालीन काव्यधाराएँ

पाठ संरचना

9.0 उद्देश्य
9.1 परिचय
9.2 निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी शाखा
9.3 निर्गुण पंथ की प्रेममार्गी शाखा
9.4 सगुण पंथ की कृष्णभक्ति शाखा
9.5 सगुण पंथ की रामभक्ति शाखा
9.6 अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ
9.7 अभ्यास के प्रश्न

9.0 उद्देश्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक को भक्तिकाल की संज्ञा दी है। इस कालावधि में रचित साहित्य का विषय अधिकांशत: किसी-न-किसी प्रकार की भक्ति है। आचार्य शुक्ल ने भक्तिकालीन साहित्य को भक्ति के आलम्बन को दृष्टि में रखकर निर्गुण और सगुण दो धाराओं में विभाजित किया है। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्होंने इन दोनों धाराओं को भी क्रमश: ज्ञानाश्रयी-प्रेमाश्रयी तथा रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति शाखाओं में विभाजित किया है। भक्तिकाल में कुछ अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ भी छिटपुट रूप से मिलती हैं। इस इकाई का उद्देश्य उपर्युक्त काव्यधाराओं से छात्रों को परिचित कराना है।

9.1 परिचय

भक्तिकाल के विकास के साथ ही उसमें अनेक तरह के दार्शनिक मतों के अलावा अनेक तरह की विचारधाराओं का भी प्रभाव पड़ता रहा। पूर्व से चली आती हुई भक्तिधारा की चेतना सिद्ध नाथ पंथियों की साधना तथा बौद्धों एवं अद्वैतवादियों की वैचारिक उपपत्तियाँ-सबका प्रभाव इस आन्दोलन पर पड़ा। समस्त भारत में हमें इस भक्ति आंदोलन के रूप मिलते हैं। एक प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित रूप दूसरा अशिक्षित निम्नवर्गीय साधकों द्वारा स्थापित रूप। बौद्धधर्म के परवर्ती सिद्ध-साधकों ने दूसरे रूप को जन्म दिया। इस रूप में सामाजिक अन्याय के प्रति विरोध का उग्र और तीखा स्वर तो अवश्य रहा, पर इनका धर्म या भक्ति का कोई सूचिंतित रूप सामने नहीं आ सका। फलत: ये सामाजिक उच्छृंखलता के पर्याय बन गए। इसके विपरीत जो विचारधारा प्रबुद्ध विचारकों द्वारा सामने आई उसकी एक लम्बी, विस्तृत स्वस्थ परम्परा थी। यह स्वस्थ निर्माण की प्रक्रिया थी। दक्षिण के भक्ति आन्दोलन ने

समस्त देश को ऐसा ही दृढ़ और स्थायी आधार प्रदान किया था । यही आन्दोलन भक्तों की वैष्णव भक्ति धारा का आन्दोलन था । बाद में यह धारा प्रधानत: दो रूपों में प्रस्फुटित और पल्लवित हुई । ये धाराएँ थीं – निर्गुण और सगुण भक्ति धारा । ये दोनों धाराएँ ऊपर से तो नितांत अलग-अलग दिखाई पड़ती थीं, परंतु गहराई से देखने पर लगता है दोनों परस्पर घुल-मिलकर एक हो गई हों । यही कारण है कि जिन दो प्रमुख धाराओं में यह भक्ति मार्ग बँटा था बाद में उनकी भी दो-दो शाखाएँ हो गईं । इस निर्गुण शाखा की दो उपशाखाएँ – ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी तथा सगुण की दो उपशाखाएँ – कृष्णभक्ति शाखा एवं राम भक्ति शाखा । इस तरह भक्तिकाल में मुख्यत: चार धाराएँ बनीं । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ तथा वीरकाव्य, प्रबन्धात्मक चरितकाव्य, नीतिकाव्य, दरबारी काव्य और रीतिकाव्य भी प्रचलित थीं ।

9.2 निर्गुण पंथ की ज्ञानाश्रयी शाखा

निर्गुण उपासक संतों के काव्यों से मिलनेवाली प्रवृत्तियों की परम्परा सुदीर्घ है । अथर्ववेद के व्रात्यों से लेकर सिद्धों-नाथों और फिर नामदेव से लेकर कबीर तक संतकाव्य की एक अविच्छिन्न कड़ी है । नामदेव के हिंदु अंधा तुरको काना, दुही ते ज्ञानी समाना से लेकर कबीर की साखियों तक में वही संत विचारधारा का उन्मेष दिखाई पड़ता है । ज्ञानाश्रयी धारा के ज्ञानमार्गी संतों और प्रेममार्गी सूफियों का साहित्य, धर्म और समाज के क्षेत्र में समान रूप से समन्वय और समझौते के भाव का वाहक है । एक ओर समाज से उपेक्षित, प्रताड़ित और अशिक्षित लोग हैं तो दूसरी ओर नासमझ मुसलमानों की टोली में से गिने-चुने समझदार तथा शिक्षित लोग हैं ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल की समाप्ति के साथ ही दक्षिण भारत से भक्ति आन्दोलन की जो लहर आई थी, उस भक्ति आन्दोलन का प्राथमिक श्रेय महाराष्ट्र के नामदेव जैसे संतों को जाता है । नाथपंथी साधुओं की परम्परा ने भी इसमें योग दिया । हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भक्ति की धारा ज्ञानमार्गी निर्गुण पंथों से प्रारंभ होती है । हिन्दी साहित्य की भक्तिकालीन निर्गुण धारा खासकर ज्ञानमार्गी संतों के काव्यों की इस दृष्टि से अमूल्य देन है । इस शाखा की भी प्रवृत्तियाँ वास्तव में कोई नई नहीं हैं, वे भी परम्परा से भारतीय चिंतनधारा में अनुस्यूत रही हैं ।

वैष्णव धर्म का दक्षिण प्रवाह छठी शताब्दी में आलवारों से होकर उत्तर की ओर बढ़ा । इसमें कुमारिल स्वामी के संतों के मतों के कारण बाधा भी आई । यह संत ज्ञानेश्वर से भी प्रभावित हुआ । इसी समय नामदेव के विह्वल की उपासना के कारण इस पर आत्मचिंतन का भी प्रभाव पड़ा जिससे रहस्यवाद की अनुभूति जगी । इसमें वर्गभेद नहीं था । इसमें कर्मकांड के बदले हृदय की पवित्रता, आचरण की शुद्धता और 'नामस्मरण' को महत्त्व मिला । मुसलमानी प्रभाव के कारण मूर्तिपूजा का अभाव भी आया ।

प्राय: सभी प्रमुख संत कवियों का आविर्भाव समाज के निम्न वर्ग में हुआ था तथा कविता करने का इनका प्रमुख उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना था । अत: इनके काव्य की विषयवस्तु का सम्बन्ध भौतिक जगत से न होकर सूक्ष्म आध्यात्मिक विचारों से है । इनके काव्य में दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचारों का वर्णन हुआ है । सूक्ष्म विचारों की अभिव्यंजना के लिए प्राय: कवि लोग किसी ऐतिहासिक पात्र, पौराणिक आख्यान या सांसारिक जीवन की किसी प्रमुख घटना का आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु सन्त कवियों ने ऐसा नहीं किया । विशुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उपयुक्त रहता है, परन्तु

उन्होंने कविता का माध्यम अपनाया, इसके कई कारण हैं । एक तो वह युग की गद्य का नहीं था, आयुर्वेद तक ग्रंथ तक उस युग में पद्य में रचे गए थे; दूसरे सन्त मत से सम्बन्धित गुरु और शिष्य-दोनों ही अशिक्षित वर्ग के थे, अत: उपदेशों को मौखिक रूप से स्मरण रखने के लिए उनका पद्यबद्ध होना आवश्यक था और तीसरे वे अपने विचारों को अधिक रोचक एवं सरल शैली में अभिव्यक्ति करना चाहते थे, अत: इन सब कारणों से इन्होंने काव्य-रचना की ।

संत कवियों के विचारधारा निजी अनुभूतियों पर आधारित है; अत: उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की सी तरलता मिलती है । उनके उपदेशों में विधि और निषेध दोनों पक्षों का समन्वय हुआ है । जहाँ उन्होंने निर्गुण ईश्वर, रामनाम की महिमा, सत्संगति, भक्तिभाव, परोपकार, दया, क्षमा आदि का समर्थन पूरे उत्साह से किया है, वहाँ मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जानेवाली हिंसा, तीर्थ-व्रत, रोजा-नमाज, हज आदि आदि विधि-विधानों, बाह्याडंबरों, जाति-पाँति, भेदभाव आदि का डटकर विरोध किया । प्राय: इन्होंने अपने युग के वैष्णव धर्म जैसे कुछ सम्प्रदायों को छोड़कर शेष सभी धर्म-सम्प्रदायों की कटु आलोचना की है । ऐसा करते समय इन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक उक्तियों एवं उनके पारिभाषिक शब्दों की पुनरावृत्ति की है । विशेषत: नाथ पंथी योगियों के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों की भी पुनरावृत्ति की है ।

संतकवियों में मुख्यत: अलौकिक प्रेम-भाव की व्यंजना हुई है जिसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी गई है । कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित बताया है, किन्तु वास्तव में सूफी रहस्यवाद से इनके प्रणय-भाव में अनेक सूक्ष्म भेद हैं, जिनपर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है । वैष्णव भक्ति की भी अनेक विशेषताएँ इनके प्रेम में मिलती हैं, किन्तु फिर भी इनका प्रणय सर्वत्र भक्ति की सीमा में आबद्ध नहीं रहता । भक्त की तृप्ति अपने आराध्य को दो हाथ की दूरी से देख लेने मात्र से ही हो जाती है; वह अधिक-से-अधिक उसके दर्शन चाहता है; संत कवियों की भाँति उसके साथ एकमेक होकर सेज पर सोने की कल्पना वह नहीं करता । किन्तु रहस्यवाद के आत्मा और परमात्मा की समानता का जो विचार अपेक्षित है, वह सन्त कवियों में नहीं मिलता । उनका आदर्श भारतीय पत्नी का है, जो अपने आपको पति की अपेक्षा हीन मानते हुए भी उसके प्राणों से लिपट जाना चाहती है । सीधे-सादे शब्दों में इनका प्रेम भक्ति और रहस्यवाद के बीच की स्थिति से सम्बन्ध रखता है, जिसे हम 'प्रणय' कहना ही अधिक उचित समझते हैं ।

इन्होंने अपने अलौकिक प्रेम की व्यंजना कुछ ऐसे लौकिक रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यमों से की है, जिनसे वह पाठक की अनुभूति का विषय बन जाता है । अनुभूति की तरलता से युक्त होने के कारण वह श्रोता के हृदय को द्रवित करने में समर्थ है । प्रणयानुभूति के क्षेत्र में पहुँचकर वे अपनी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं । कबीर जैसे अक्खड़ भी विरह-वेदना से त्रस्त होकर सौ-सौ आँसू बहाने लगते हैं । बनारस के पंडितों को ललकारनेवाला, अपनी उक्तियों से उनके शास्त्र-ज्ञान को चकनाचूर कर देनेवाला कबीर अपने प्रियतम के प्रेम में बेसुध होकर अपने आपको 'राम का कुत्ता' तक घोषित कर देता है । विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति में इन्हें पूरी सफलता मिली है । कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है -

विरहनि उभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ ।
बहुत दिनन की जोबती बाट तुम्हारी राम ।
जिब तरसै तुझ मिलन कूँ मनि नाही विश्राम ।।

-कबीर

तीव्र-विरह वेदना की अनुभूतियों के अनन्तर इन कवियों के भावुक जीवन में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता है । वे अपना सारा पौरूष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूलकर किसी नवीना किशोरी के हृदय की भाँति कोमलता से गद्‌गद् लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं । प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय में तरह-तरह की शंकाओं का आन्दोलन उठने लगता है –

मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग ।
क्या जाणै उस पीव लूँ, कैसे रहसी रंग ।।

–कबीर

अन्त में हम कह सकते हैं कि सन्त काव्य में अनेक न्यूनताएँ होते हुए भी वह हिन्दी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है । जिस युग में काव्य रचना की वह भारत के लिए अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का घोर अन्धकारमय युग था और वे कवि उस युग की जनता के निम्नतम स्तर से सम्बन्ध रखते थे, फिर भी उन्होंने ज्ञान की जो ज्योति जलाई वह अद्‌भुत है, अपूर्व है । सुसंस्कृत युग और सुशिक्षित समाज के सुपठित कवियों द्वारा उच्चकोटि की रचनाओं का प्रणीत होना विशेष महत्त्व की बात नहीं; अपने पतन की चरम अवस्था में भी पतित, दलित एवं जर्जरित भारत का ऐसे महान् प्रतिभाशाली, गंभीर चिन्तक एवं स्पष्टवक्ता कवियों को जन्म दे देना एक ऐसा आश्चर्य है जिसका दूसरा उदाहरण विश्व इतिहास में शायद ही कहीं मिले ।

साहित्यिक दृष्टि से सन्त कवियों की देन का कम महत्त्व नहीं है । अपनी अनुभूतियों को सहज स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्‌घाटन किया । आधुनिक कवियों एवं लेखकों की भाँति उन्होंने अपने साहित्य में अपरिपक्व विचारों; अस्पष्ट जीवन-दर्शन और अधकचरे मनोविज्ञान का मिश्रण नहीं किया, अपितु मस्तिष्क के शुष्क विचारों को हृदय की अनुभूति में अवगाहित करके व्यक्त किया । सच्चे कवि की वाणी में अभिव्यक्ति के साधन स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन कवियों का साहित्य है । ''भाषा कैसी ही हो, भाव चाहिए भित्त'' की उक्ति सन्तकाव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है ।

9.3 निर्गुण पंथ की प्रेममार्गी शाखा

भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के उन भक्त कवियों की रचनाओं को, जिन्होंने परमात्मा को पाने के लिए प्रेम मात्र को साधन माना था, हिन्दी के ऐसे कवियों को साहित्य का इतिहास लिखने वालों ने 'प्रेममार्गी शाखा' के अन्तर्गत रखा है । इस शाखा के कवि प्रमुख रूप से सूफी साधक थे । ये सूफी साधक परमात्मा को प्रेमस्वरूप मानते थे तथा जिसे पाने के लिए प्रेम को ही एकमात्र माध्यम मानते थे ।

प्रेमाख्यानक काव्य का तात्पर्य कई बार सूफी प्रेमाख्यानक काव्य मात्र से समझ लिया जाता है । वहाँ भी अनेक विद्वानों ने सूफी काव्य-धारा (प्रेमाख्यानक काव्य-धारा) को इस्लामी धारा के रूप में मान्यता दी है जिसमें परंपरीण इस्लामी कट्टरपन की जगह प्रेम को स्थान दिया गया है । सूफी संतों ने हिन्दी में फारसी की मसनवी शैली में प्रेमकथाएँ लिखने की परंपरा कायम की है । यों ऐसी बात नहीं कि सूफी प्रेमाख्यानक काव्य के पूर्व भारत में प्रेमाख्यान लिखे ही नहीं गए थे । भारत में प्रेमाख्यानों की दीर्घ परंपरा रही है ।

प्रेमाख्यान का 'आख्यान' शब्द संस्कृत 'आख्यायिका' का रूपांतरण प्रतीत होता है । आख्यायिका में नायक

द्वारा गद्य में ही वर्णन किया जाता था । यहाँ किसी भी पात्र द्वारा या कर्त्ता द्वारा गद्य या पद्य किसी भी माध्यम से वर्णन की छूट है । इसके लिए 'उपाख्यान' शब्द भी मिलता है । इसका कथानक काल्पनिक भी हो सकता है और वृत्तांतपरक भी । प्रेम से यहाँ पुरुष और स्त्री के प्रेम का ही बोध होता है ।

भारतवर्ष में प्रेमाख्यानों की सुदीर्घ परंपरा रही है । विकास की दृष्टि से भारतीय प्रेमाख्यानों को वैदिक प्रेमाख्यान, पौराणिक प्रेमाख्यान, बौद्ध एवं जैन प्रेमाख्यान, कथा-साहित्य एवं काव्यों में प्रेमाख्यान, लोकगाथात्मक प्रेमाख्यान और बाद में सूफी प्रेमाख्यान आदि की श्रेणियों में रखे जा सकते हैं । वैदिक प्रेमाख्यानों में पुरूरवा-उर्वशी, यम-यमी-संवाद, श्यामस्वाख्यान इत्यादि अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । प्रेमाख्यानक काव्य की परंपरा भारत में पहले ही से ही चली आ रही है । बहुत पहले लोक भाषाओं में प्रेमकथानकों का ऐसा काव्य-साहित्य काफी अधिक संख्या में लिखा गया था । कभी-कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े होते थे और कभी इनमें चरित नायक बिलकुल ही कल्पित हुआ करते थे । जाहिर है, जायसी से पूर्व प्रेमाख्यानक काव्यों की परंपरा निरवच्छिन रूप में चली आ रही थी । अपभ्रंश की प्रेम गाथाओं के अनंतर लोक गाथाओं के आधार पर सर्वप्रथम मुल्ला दाउद ने सन् 1370 में पद्मावत से डेढ़ सौ साल पूर्व 'चंद्रायन' प्रेमाख्यान की रचना की थी । ज्योतिशेखर ठाकुर ने अपने 'वर्ण रत्नाकर' में लोरिक गीतों का स्मरण किया है, जो भोजपुरी प्रदेश में 'लोरिकायन' के नाम से प्रचलित है । उन्हीं का आश्रय लेकर चंदायन या 'नूरकचंदा' का प्रणयन हुआ । 'चंदायन' इस क्षेत्र में इतनी प्रभावशालिनी गाथा थी कि डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल की सूचना के अनुसार रामपुर राज्य की पद्मावत की हस्तलिखित प्रति के पहले पृष्ठ पर चंदायन की चौपाइयाँ और दोहा उद्धृत हैं -

अनेक कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से भी दार्शनिक विचारों एवं साधन-पद्धतियों की अभिव्यक्ति की है । इनमें भी सामान्यत: भारतीय साधना-पद्धति की अभिव्यंजना हुई है । जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन रूपी मन का नागमती रूपी सांसारिक आकर्षण से मुक्त होकर गुरु की सहायता से पद्मावती रूपी सात्विक बुद्धि की उपलब्धि का रूपक प्रस्तुत किया है । इस सात्विक बुद्धि या आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा ही मन माला के बन्धन को काटकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है । इस प्रकार इसमें मोक्ष-प्राप्ति की भारतीय ज्ञान-साधना का ही प्रतिपादन है, किन्तु हमारे विद्वानों ने पहले से ही उसे सूफी-साधना का रूपक मानकर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया - जहाँ कवि ने 'पद्मावती' को बुद्धि का प्रतीक माना है वहाँ इन्होंने परमात्मा का मान लिया, फलत: उन्हें रूपक की व्याख्या में सफलता नहीं मिली और इसे निरर्थक घोषित करने को बाध्य होना पड़ा । इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली' नूरमोहम्मद की 'इन्द्रावती' एवं अनुराग-बाँसुरी में भी भारतीय तत्वों की अभिव्यक्ति दी गई है । 'चित्रावली' का नायक शैव-साधक है, नायिकाएँ विद्या और अविद्या की प्रतीक हैं तथा अन्त में नायक संसार से संन्यास लेकर शिवाराधना में लग जाता है, जिससे इसमें शैव-उपासना के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है । इन्द्रावती में तो पात्रों के नाम ही भारतीय दर्शन पर आधारित है - नायक का नाम जीवात्मा है, नायिका का ब्रह्म ज्योति, मंत्री बुद्धसेन (ज्ञान का प्रतीक) है तथा नायक ज्ञान की सहायता से ही ब्रह्म ज्योति की उपलब्धि कर पाता है । इसी प्रकार 'अनुराग बाँसुरी' का नायक 'अन्तकरण' है, उसके साथी 'संकल्प विकल्प' हैं, उसके मित्रों में बुद्धि, चित्त और अहं है तथा नायिका 'सर्व मंगला' है । वस्तुत: ये सब पात्र भारतीय दर्शन के ही विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं ।

इसके अतिरिक्त इस परम्परा के अधिकांश कवि हिन्दू हैं, जिनमें एक ओर नन्ददास जैसा पुष्टिमार्गी भक्त हैं, तो दूसरी ओर बाबा धरणीदास एवं दु:खहरण दास जैसे संत मतानुयायी है । इसी प्रकार अन्य संप्रदायों के मतावलम्बी

है, किन्तु सभी हिन्दू कवियों को अपने मत पर पूरी आस्था है तथा उन्होंने प्राय: अपने काव्य में हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति पूरी श्रद्धा के साथ की है । अत: उन पर सूफी होने का सन्देह करना व्यर्थ है ।

इन काव्यों के आकर्षण का मूल केन्द्र धर्म, दर्शन एवं ईश्वर नहीं है, अपितु नारी या सुन्दरी है । नारी को अधिक महत्त्व इन काव्यों में प्राप्त हुआ है, उतना भारत की किसी भी अन्य परंपरा के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता । नारी के सौंदर्य की व्यंजना संस्कृत के महाकाव्य रचयिताओं ने भी की है, किन्तु वहाँ उस सौन्दर्य का इतना महत्त्व नहीं है कि उसके लिए प्राणों का भी मूल्य दिया जा सके । नारी सौन्दर्य को इन कवियों ने एक ऐसा विस्तार एवं महत्त्व प्रदान किया है कि उसके समस्त संसार की सारी विभूतियाँ आभाहीन एवं तुच्छ प्रतीत होती हैं । इसीलिए सुन्दरियों की प्राप्ति के लिए नायक अपने सर्वस्व का भी त्याग एवं बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाता है तथा प्राणों की बाजी लगाकर ही उसे पाने में सफल हो पाता है । इन काव्यों के सारे कथानक का मूल केन्द्र नायिका ही है, उसी के लिए कथानक की सारी घटनाओं का आयोजन होता है और वही सारे क्रियाकलापों की प्रेरणा एवं प्रयोजन है तथा उसी के आधार पर प्राय: कथा का नामकरण होता है । जिस प्रकार भारतीय महाकाव्य एवं नाटक पुरुष प्रधान या नायक प्रधान कहे जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें नायिका प्रधान कहा जा सकता है । फिर भी यह उल्लेखनीय है कि ये नायिकाएँ स्वयं प्राय: निष्क्रिय एवं प्रयत्न-शून्य सी ही दिखाई पड़ती हैं, कथानक के सारे उतार-चढ़ाव में वे प्रत्यक्ष रूप में कोई भाग लेती हुई सी दृष्टिगोचर नहीं होतीं ।

इन काव्यों का मूल भाव या स्थायी भाव रति या प्रेम है । प्रेम के भी दृष्टिकोण भेद से कई रूप माने जाते हैं । जहाँ प्रेम समाज की मर्यादाओं से अनुप्राणित हो, वहाँ उसे मर्यादावादी प्रेम कह सकते हैं, जैसा कि राम-सीता के जीवन में मिलता है । इसके विपरीत दूसरा रूप स्वच्छंदतावादी प्रेम का है, जो समाज के बंधनों एवं नैतिक मर्यादाओं को स्वीकार नहीं करता । एक अन्य रूप इन दोनों के बीच का है, जो सिद्धान्त रूप में मर्यादाओं का विरोध नहीं करता, किन्तु वास्तविक जीवन में उनके पालन में असमर्थता स्वीकार करता है – यह यथार्थवादी दृष्टिकोण का द्योतक है । रोमांचक कथाओं में प्राय: इनमें से दूसरे प्रकार के प्रेम या स्वच्छन्दतावादी प्रेम जिसे पाश्चात्य शब्दावली में 'रोमांस' कहा जाता है – का ही चित्रण होता है । स्वच्छन्द प्रेम की उत्पत्ति सौन्दर्य की प्रेरणा से एकाकार होती है तथा यह साहस एवं शौर्य से ओत-प्रोत होता है । वह कुल, समाज एवं लोक मर्यादाओं की उपेक्षा करके अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर होता है ।

हिन्दी के इन काव्यों में प्राय: इसी रूप का चित्रण किया गया है, किन्तु उन्होंने किसी ऐसी परिस्थिति का आयोजन प्राय: नहीं किया जिससे कि वह सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिकूल चला जाए । उदाहरण के लिए चंदायन जैसी एक-दो रचनाओं को छोड़कर इनमें नायिका कुमारी ही है यथा वह अन्त तक अपने सतीत्व का निर्वाह करती है । इसी प्रकार पुरुषों में बहु-विवाह का प्रचलन होने के कारण भी इनके नायकों का अनेक कुमारियों से विवाह करना सामाजिकता के प्रतिकूल नहीं जाता । इन कवियों ने रोमांस के आधारभूत तत्वों की रक्षा करते हुए उसे समाज विरोधी होने से बचाया है ।

प्रेम में परिस्थिति भेद से काम, सौन्दर्य एवं प्रणय का सन्निवेश होता है । इन कवियों ने इन तीनों का चित्रण विभिन्न प्रसंगों में चरम सीमा तक किया है । संयोग वर्णनों में कामुकता, नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में सौन्दर्य एवं नायक-नायिकाओं के विरह-प्रसंग में प्रणय की अभिव्यक्ति अपने चरमोत्कृष्ट रूप में हुई है । जब हम इनके संयोग वर्णनों को पढ़ते हैं तो लगता है, कवि सारे कामशास्त्र एवं कोकशास्त्र को खोलकर बैठ गया है, तो दूसरी ओर सौन्दर्य

एवं प्रणय की व्यंजना को देखकर प्राय: आध्यात्मिक सौन्दर्य एवं दिव्य प्रेम की अनुभूति होने लगती है । प्रत्येक तत्त्व को अत्युक्ति की सीमा तक पहुँचा देने की प्रवृत्ति के कारण ही उन्होंने प्राय: ऐसा किया है ।

इनके नायक और नायिकाओं के पारस्परिक प्रेम की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि इनमें नायक का प्रेम प्राय: अधिक स्वच्छ, उदात्त एवं त्यागमय है । उसमें प्रणय की अधिक गंभीरता है, जबकि नायिकाओं में कहीं-कहीं काम-वासना की प्रेरणा अधिक मुखर है । उदाहरण के लिए जहाँ जायसी का रत्नसेन पद्मावती के लिए सारा राज्य वैभव ठुकराकर प्राणों का भी बलिदान करने के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है तथा स्वर्ग की अप्सरा को भी यह कहकर ठुकरा देता है कि भले ही वह पद्मावती से अधिक सुन्दर हो, किन्तु उसे पद्मावती को छोड़कर और किसी से कोई मतलब नहीं है, वहाँ पद्मावती में यह परिलक्षित नहीं होती । प्रारंभ में तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी समस्या एक मात्र 'यौन-ज्वार', 'काम-समुद्र' एवं 'मदन तरंगों' से ही छुटकारा पा जाने की है । इसलिए वह अपनी समस्या हीरामन तोते के समक्ष प्रस्तुत करती हुई कहती है-

'सुनु हीरामन कहौ बुझाई । दिन दिन मदन सतावै आई ।
जीवन मोर झाउ जस गंगा, देह-देह हम्ह लाग अठांगा ।''

इन कालों की नायिकाओं के प्रेम की विकास क्रमश: वासनाओं से भावना की ओर अग्रसर होता है जबकि नायकों में यह एकाएक ही अपने चरम विकास की अवस्था को प्राप्त कर लेता है । इस दृष्टि से नायिकाओं के प्रेम की यथार्थवादी एवं मनोविज्ञान संगत कहा जा सकता है, जबकि नायक का प्रेम, उनके आदर्शवादी एवं अव्यावहारिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है । इन दोनों रूपों के साथ-साथ इनमें नागमती जैसी पत्नियों के दाम्पत्य भाव की भी अभिव्यक्ति मिलती है, जो प्रेम के मर्यादित रूप का प्रतिनिधित्व करता है तथा जिसकी सम्यक् अभिव्यक्ति प्राय: विरहोद्गारों के रूप में ही हुई है । अत: कहा जा सकता है कि इनमें जहाँ रोमांसिक प्रेम की ही प्रधानता है, वहाँ गौण रूप में उसके अन्य रूप भी चित्रित हुई हैं ।

प्रणय-भाव के अतिरिक्त इसमें उत्साह, निर्वेद, रौद्र, करूण आदि की भी व्यंजना प्रसंगानुसार हुई है - किन्तु उन्हें प्राय: गौण रूप में स्थान मिला है ।

प्रेम की व्यंजना करते समय इन कवियों ने परम्परागत शास्त्रीय तत्त्वों - विशेषत: नख-शिख, नायिका-भेद, काम-दशाओं, विरह की अवस्थाओं आदि के निरूपण का भी उपयोग कई स्थानों पर किया है ।

महाकाव्य और कथा-काव्य में बड़ा अन्तर उनकी आधारभूत जीवन-दृष्टि एवं मूल लक्ष्य का होता है । महाकाव्य जहाँ जीवन में आदर्श एवं मर्यादा की स्थापना के लक्ष्य से प्रेरित होता है, अंतत: उसका दृष्टिकोण सर्वत्र आदर्शोन्मुखी रहता है, जबकि कथा-काव्य का लक्ष्य मुख्यत: पाठक को रोमांचित एवं आह्लादित कर देना मात्र होता है ।

मध्यकाल में जबकि लोक रंजन के अन्य साधनों का प्राय: अभाव था, इन काव्यों को इस अभाव की पूर्ति में असाधारण योग दिया । साथ ही इनके द्वारा जनसाधारण के ज्ञान कोष में भी अभिवृद्धि हुई, क्योंकि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रीय तत्त्वों को भी प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया है परम्परा की दीर्घता एवं व्यापकता भी इसकी लोकप्रियता एवं महत्ता की सूचक मानी जा सकती है । वस्तुत: आधुनिक युग में स्थान उपन्यास साहित्य का है, वही मध्यकाल में इन प्रेम-कथाओं का रहा है; वे जनता की कलात्मक रुचि एवं साहित्यिक भूख को बराबर शांत

करती रही है । इसके अतिरिक्त इस युग के जड़ एवं निस्पंद जीवन में इन आख्यानों की साहसिकता ने न्यूनाधिक चैतन्यता एवं कर्मण्यता का भी संचार अवश्य किया होगा, यह भी स्वीकार किया जा सकता है ।

9.4 सगुण पंथ की कृष्णभक्ति शाखा

यों तो कृष्ण काव्य का प्रारंभ हिन्दी में विद्यापति से माना गया है, लेकिन विद्यापति पर 'गीतगोविंद' के ललित पदों के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण वास्तव में कृष्ण काव्य का सूत्रपात करनेवाले प्रथम कवि के रूप में जयदेव का ही नाम लिया जाना चाहिए । जयदेव श्री कृष्ण-लीला और विलास-लीलाओं के आचार्य से हैं । 'गीतगोविन्द' में जयदेव ने राधा-कृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर लीलाएँ और प्रेम की मादक अनुभूति अत्यंत सरस और मधुर 'शब्दावली' में प्रस्तुत की है । 'गीतगोविंद' में कामदेव के बाणों की मीठी पीड़ा है । लौकिक शृंगार से यदि आध्यात्मिकता का संकेत माना जाए तो 'गीतगोविंद' में आध्यात्मिकता का यों तो कोई संकेत नहीं मिलता । यहाँ कृष्ण 'हरि' रूप में हैं, बस । उनकी लीला और चेष्टाएँ कामसूत्र के संकेतों के आधार पर परंरंभन विलास और क्रीड़ा की हैं ।

बिहरति हरिरिह सरस बसंते ।
नृत्यति भुवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरंते ।
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधु जन जमित विलापे ।
अलि कुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे ।''

जयदेव के कृष्ण का मूल रूप इसी पंक्ति से स्पष्ट होता है -

''गोपी पीन पयोधर मर्दन चंचल कर युग शाली ।''

जयदेव से कृष्ण काव्य का प्रारंभ नहीं माननेवालों को इतना तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी के कवियों की राधा-कृष्ण संबंधी रचनाओं के प्रणयन के लिए उनके 'गीतगोविन्द' ने अत्यधिक प्रोत्साहन अवश्य प्रदान किया । इस क्षेत्र में वे हिन्दी के कवियों के लिए आधार-स्तंभ सरीखे हैं ।

लोक परंपरा की देशभाषा में सबसे पहली कृष्णादत साहित्यिक अभिव्यक्ति चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में विद्यापति के मैथिल पदों में हुई है । जाहिर है 'पदावली' इस दृष्टि सें हिन्दी की पहली कृष्ण काव्य परक रचना मानी जानी चाहिए ।

जयदेव के 'गीतगोविंद' का प्रभाव विद्यापति के काव्य पर कितना पड़ा इसका अनुमान तो विद्यापति के 'अभिनव जयदेव' विशेषण से ही लगाया जा सकता है । इस मैथिल कवि ने परंपरागत कृष्ण के केलि कला-निपुण स्वरूप में कोई नवीन उद्‌भावना नहीं की, प्रत्युत परंपरा का ही पालन किया । जयदेव की 'विहरति हरिरिह सरस बसंते' पंक्ति की तुलना विद्यापति की इन पंक्तियों से करके देखें -

बिहरहिं नवल किशोर ।

कालिंदी तट कुंज नव शोभन, नव नव प्रेम-विभोर तथा - ''नव युवती जन चित उनमाइल नव रस कानन छाप ।'' राधा-कृष्ण के जीवन को प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी विद्यापति ने नहीं रहने दिया है । विद्यापति के पदों

में भक्ति ढूँढ़ना लगभग व्यर्थ है । संकेत रूप से भी विद्यापति ने कहीं भी कृष्ण का स्वरूप नारायण, विष्णु या परब्रह्म का नहीं रहने दिया है । इनके कृष्ण-काव्य का प्रधान स्वर ही शृंगार है ।

विद्यापति के बाद हिन्दी कृष्ण-काव्य के प्रथम कवि सूरदास थे जो वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे । पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य ने उनकी प्रतिभा को अपने संप्रदाय के प्रचार में लगाया । फलतः सूर ने भी राधाकृष्ण के माधुर्य रूप को ही अपनी भक्ति से ओत-प्रोत पदों का आधार बनाया । ये कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार तीनों एक साथ थे । जयदेव और विद्यापति की गीतात्मक रचनाओं की सरसता का अवलम्ब लेकर कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने भी गीत की अजस भावधारा बहाई । इन कृष्णभक्त कवियों ने अपने इष्टदेव कृष्ण की बाल लीलाओं में ही अपने को भुला दिया ।

कहा जाता है कि सूर जन्मांध थे, किंतु ब्रज के इस अंध कवि ने भागवत के दशम संबंध में वर्णित कृष्ण की लीलाओं को ही ब्रजबोली में माधुरी के रस, माधुर्य और कृष्ण के गोप-गोपियों के संग क्रीड़ारत स्वरूप की कमनीयता और सौंदर्य में वे यह न भूलें कि उनका कृष्ण अवतार है और पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक है । वात्सल्य रस में आकंठ डूबे उनके पदों में भी यद्यपि बाल-गोपाल दही-माखन-मिश्री चुराकर खाने की लौकिक क्रीड़ाएँ करते हैं तथापि यशोदा को अपना मुख खोलकर यह भी दिखला देते हैं कि सकल ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले 'अक्षर ब्रह्म' के स्वरूप भी वे ही हैं ।

सूर के कृष्ण उनके सखा हैं, लेकिन 'पुरुषोत्तम' अवतार भी । वे गोप-गोपियों के संग कालिंदी के पुलिनों पर रास के रचयिता भी हैं और शस्त्र ग्रहण करनेवाले भी । 'सूरसागर' और 'साहित्यलहरी' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं । शृंगार और वात्सल्य उनका प्रमुख क्षेत्र है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "सूरसागर महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोरोग 'लिरिकल' या गीतात्मक है ।" सूर की एक ही अभिलाभाषा है - कृष्ण-लीला का गान । वे भक्तों में उद्धव के अवतार माने जाते हैं । समीक्षकों की राय में "विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि से सूर अन्यतम हैं ।" सूर के वैसे तो पाँच ग्रंथ बताए जाते हैं - 'सूरसागर', सूर-सराली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती और व्याहलो, अगर अंतिम दो ग्रंथ अनुपलब्ध हैं । सूर की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत के भी पुट हैं । उनकी बोलचाल की भाषा में माधुर्य गुण विद्यमान हैं ।

सूरदास के कृष्णभक्ति-शाखा के दूसरे प्रमुख कवि हैं नंददास । इनके लिए किसी ने कहा है "और कवि गढ़िया नंददास जड़िया ।" इनके अनेक ग्रंथों की चर्चा होती है । नंददास का 'रस-पंचाध्यायी' सर्वाधिक ख्यात ग्रंथ है । इनके अतिरिक्त (1) भ्रमरगीत, (2) अनेकार्थ मंजरी, (3) मानस मंजरी, नाममाला, (4) रस-मंजरी, (5) श्यामल सगाई, (6) रूक्मिणी-मंगल (7) भाषा दशम् स्कंध आदि । 'भ्रमरगीत' अत्यन्त लोकप्रिय काव्यग्रंथ है जिसमें भावुकता के साथ दार्शनिक तार्किकता का प्राधान्य है । जहाँ सूर की गोपियाँ अपने स्त्रियोचित सरलता सरल निजी अनुभव की तीव्रता के सामने उद्धव के तर्कों को ठहरने नहीं देती, वही नंददास की गोपियों में बुद्धिवाद का बाहुल्य है । उन्होंने उद्धव को दर्शन की ही तर्क भूमि पर पछाड़ने का प्रयत्न किया है । उनमें भावुकता और हास्य-व्यंग्य की भी कमी नहीं है -

"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहा ते ।
बीज बिना तरू जमें, मोहि तुम कहो कहाँ ते ।।

वा गुन की परछाँह ही, माया दर्पन बीच ।

गुन ते गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच ।

नंददास के बाद पुष्टिमार्गी अष्टछाप के तीसरे महत्त्वपूर्ण कवि हैं परमानंद दास । रचना के विस्तार और काव्य की उत्कृष्टता की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है । इनके रचे हुए छह ग्रंथ बताए जाते हैं - (1) परमानंद-सागर, (2) परमानंद जी के पद (3) दान-लीला (4) उद्धव-लीला (5) ध्रुव-चरित तथा (6) संस्कृत रत्नमाला । इन्होंने भगवान कृष्ण की बाल-लीलाओं का विशद वर्णन किया है । एक उदाहरण देखें -

ब्रज के विरही लोग विचारे ।

बिन गोपाल ढगे से ठाढ़े अति दुर्बल तन हारे ।।

मात जसोदा पंथ निहारति, निरखत साँझ सकारे ।

जो कोउ कान्ह-कान्ह कह बोलत, अखियन बहुत पनारे ।।

ये मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे ।

परमानंद स्वामी बिना ऐसे ज्यों चंदा बिनु तारे ।।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के तीसरे सुयोग्य शिष्य कृष्ण दास थे जिन्हें वल्लभाचार्य ने मंदिर का मुखिया नियुक्त कर दिया था । इनकी रचनाओं में 'जुगल मान चरित' के अतिरिक्त 'भ्रमरगीत' और 'प्रेम तत्त्व-निरूपण' नामक दो ग्रंथ बताए जाते हैं । इन्होंने मुख्यत: राधाकृष्ण की शृंगारी लीला के ही पद रचे हैं ।

अष्टछाप के प्राय: सभी कवि अपनी ईश अनन्यता के लिए प्रसिद्ध हैं । अष्टछाप के पाँचवे कवि कुम्भन दास थे । ये अच्छे गायक थे और ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार रखते थे । ये हृदय की अनुभूति से प्रेरित होकर अपने भावों को संगीतमयी भाषा में अभिव्यंजित करते थे । इनकी रचनाएँ लगभग स्वांत: सुखाय होती थीं । अष्टछाप के कोई कवि राज्याश्रय के कांक्षी नहीं थे । कुम्भन दास का यह पद देखें -

संतन कहा सीकारी सों काम ।

आवत-जात पनहियाँ टूटी, बिसरी गयो हरि नाम ।

जिनको मुख देखत दुखे उपजत करिवे परी सलाम ।

छीतस्वामी कवि के रूप में छीत स्वामी इतने भावुक थे कि यमुना जल में पैर देने के अपराध के भय से उसमें प्रवेश नहीं करते थे । रेती में लोटा करते थे और कूप के जल से स्नान करते थे । छीतस्वामी ही नहीं, अष्टछाप के सभी कवियों की वाणी में भगवद् भक्ति के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से पवित्र की हुई ब्रजभूमि के प्रति भी विशेष श्रद्धा प्रकट होती है । देखिए यह पद -

हे विधना । तो सों अँचरा पसारि माँगो,

जन्म-जन्म दीजों मोहि, याहि ब्रज बसिबो ।।

सातवें कवि हैं चतुर्भुज दास । ये कुम्भन दास के पुत्र और विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे । इनके चरित तीन ग्रंथ - 'भक्ति प्रताप', 'द्वादश यश' और 'हितजू को मंगल' उपलब्ध है । गृहस्थ जीवन बिताते हुए श्रीनाथ जी की सेवा में लीन रहते थे ।

अष्टछाप के अंतिम कवि थे गोविंद स्वामी । गोविंद स्वामी की एक कवि के रूप में अपनी पहचान थी । वे ब्रज को छोड़कर बैकुंठ भी नहीं जाना चाहते थे -

'कहाँ करें बैकुंठहिं जाय ।
जहाँ नहीं कुंज-लता, अलि कोकिल, मंद सुगंध न वायु बहाय ।

कृष्ण भक्ति शाखा के अष्टछापी कवि वल्लभ संप्रदाय के थे । इनके अतिरिक्त चार और वैष्णव संप्रदायों को मुख्यता दी जाती हैं - राधा वल्लभीय संप्रदाय, गौड़िया संप्रदाय, पट्टी संप्रदाय और निम्बाकं संप्रदाय । इनमें कई बड़े भावुक कवि हो गए हैं । उन्हीं में एक थे हितहरिवंश । ये राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्तक थे । यहाँ सुखी और किंकरी भाव से कृष्ण की उपासना की जाती है । इनके 'हित चौरसी' नामक चौरासी पद भाषा के संगीतमय प्रवाह और माधुर्य के कारण ही बहुत श्रेष्ठ और आकर्षक हैं । इन्होंने 'राधा सुधानिधि' नामक एक संस्कृत का भी ग्रंथ लिखा है । हित हरिवंश जी की रचना का एक उदाहरण देखें :

आज बन नीको हास बनायो
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट, मोहन बेणु बजायो ।''

हित वृंदावन - ये हित संप्रदाय के प्रमुख कवि थे । इन्होंने लीला का विशद् वर्णन किया है । इनकी पदयोजना बहुत लालित्यपूर्ण है । इनकी भापा अत्यंत सरल, प्रवाहमयी और सुव्यवस्थित है । इनके छोटे-बड़े पैंतालीस ग्रंथ बताए जाते हैं । गदाधर भट्ट - ये गौड़ियाँ संप्रदाय के प्रमुख कवि थे । इन्होंने श्री कृष्ण की वेदना के साथ ही नंद और यशोदा की भी वेदना की है । इन्होंने होली और झूला झूलने के बड़े ही सजीव चित्र उपस्थित किए हैं ।

ललित किशोरी ललित माधुरी - दोनों कवियों ने भी श्रीकृष्ण को लेकर अच्छी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं । हरिराम व्यास गौड़िया संप्रदाय के थे । फिर वे राधा वल्लभीय संप्रदाय में दीक्षित हो गए । ब्रज के प्रति इनकी श्रद्धा देखने लायक है -

ऐसे ही बसिये ब्रज वीथिन ।
साधुन के पनवारे चुनि-चुनि उदर पोसिये सीथिन ।
धुरिनि में के बीन चिनगरा, रक्षा कीजै सीतिन ।।

हरिदास नामक कवि गाने में बड़े निपुण थे और तानसेन के भी गुरु थे । इनका काव्य प्राय: संगीत में बँधा हुआ है और राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं । इनमें कला और पांडित्य कम है, परंतु भाव बड़े उत्कृष्ट हैं । स्वामी हरिदासजी के पद तथा 'स्वामी हरिदास बानी' में इनके पद संगृहित हैं ।

मीराबाई-मीरा कृष्ण की अन्यतम उपासिका थी । इनके बनाए हुए चार ग्रंथ बताए जाते हैं - (1) नरसीजी का मायरा (2) गीत गोविंद-टीका (3) राग गोविंद और (4) राग सोरठ के पद । इन्होंने रैदास को अपना गुरु बतलाया है - ''गुरु मिल्या रैदास, दीन्हीं ज्ञान की गुटकी ।'' अष्टछाप के कृष्णदास ने मीरा को वल्लभ संप्रदाय में लाने का प्रयत्न किया था, जो विफल हुआ । उनका भगवान कृष्ण से सीधा माधुर्य का संबंध था । इनके पद कुछ राजस्थानी में हैं और कुछ शुद्ध ब्रजभाषा में । बड़ी तन्मयता से लिखे इनके पदों में प्रेम की पीड़ा है । इनकी पदों में इनकी तीव्रानुभूति भरी पड़ी है । इनके कुछ पद देखें - ''बसो मेरे नैनन में नंदलाल'' या फिर ''स्याम मन चाकर राखो जी'' ।

एक कृष्णभक्त मुसलमान कवि रसखान अपने ढंग के अकेले कवि हैं । इनकी दो पुस्तकें – 'प्रेम वाटिका' और 'सुजान रसखान' उपलब्ध हैं । ये एकांगी और नि:स्वार्थ प्रेम के पोषक थे । रसखान गीत या पद के बदले कवित्त और सवैया लिखते थे । इनमें चलती हुई शुद्ध ब्रजभाषा मिलती है । प्रेम से लबालब उनका यह सवैया देखें –

''मानुष हों तो वही रसखान बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन
जौ पशु हौं तो कहा बसु मेरो चरौ नित नंद की धेनु मझारन ।''

रसखान भी सूर की ही भाँति वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे । ये सखाभाव से उपासना करते थे ।

घनानंद यद्यपि समय के हिसाब से रीतिकाल में आते हैं, परंतु ये कृष्णोपासक कवियों में विलक्षण हैं । प्रेम की पीर का बड़ा मार्मिक चित्रण उन्होंने किया है ।

कृष्ण भक्त कवियों की यह महत्ता रही है है कि इनके कारण ब्रजभाषा का रूप अत्यंत निखर गया और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी । कवयित्री ताज (मुसलमानिन) का नाम भी कृष्ण भक्त कवियों में उल्लेखनीय है । यह भी कृष्ण के रूप-गुण पर लुब्ध-मुग्ध थी । ताज की एक तन्मयता भरी पंक्ति देखें :

''नंद के कुमार कुरबान ताड़ी सूरत पै
तांड नाल प्यारे हिंदुआनी है रहूँगी मैं ।''

हिन्दी के आधुनिक काल में भी कृष्ण भक्त कवियों की अच्छी-खासी शृंखला है । इनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र, सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' प्रभृति ने कृष्ण काव्य का प्रणयन किया है । कृष्ण के प्रेमी रूप की परंपरा अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तक रही है । हालाँकि हरिऔध की कृष्ण-भावना परंपरीण नहीं है, वह बुद्धिवाद पर आधारित है । काफी बाद में जानकी वल्लभ शास्त्री ने 'राधा' नामक एक प्रबंध काव्य लिखा । द्वारिका प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' नामक प्रबंध काव्य लिखा । इस प्रकार कृष्ण काव्य परंपरा निरवाच्छिन्न रूप से अद्यतन चलती रही है ।

9.5 सगुण पंथ की रामभक्ति शाखा

भारतीय भक्ति भावना तथा वैष्णव धर्म में रामभक्ति की व्यापकता देखकर इस तथ्य पर सहज ही विश्वास नहीं होता कि भक्ति मार्ग तथा वैष्णव धर्म की उत्पत्ति और विकास के बहुत शताब्दियों बाद रामभक्ति का जन्म हुआ था । वैष्णव धर्म की उत्पत्ति के बाद भक्ति-भावना विष्णु नारायण वासुदेव कृष्ण में केंद्रीभूत होकर उत्तरोत्तर विकसित होने लगी थी । ईसवी सन् के प्रारंभ से ही राम भी विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत होने लगे थे, परन्तु यह तथ्य है कि कारण चाहे जो भी रहा हो, शताब्दियों तक रामभक्ति का कहीं कोई निर्देश नहीं मिलता । गोपाल भंडारकर का कहना है कि भक्ति के क्षेत्र में राम की प्रतिष्ठा विशेष रूप से ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के लगभग प्रारंभ हुई ।

वास्तव में राम-भक्ति की पहली अभिव्यक्ति काव्य में हुई थी । तमिल आलवार संतों की 'नालियर प्रबंध' नामक रचना में भगवान विष्णु तथा उनके अवतारों के प्रति असीम भक्ति तथा पूर्ण आत्म-समर्पण के उद्‌गार मिलते हैं । वैसे तो कृष्ण को उन पदों में अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु पहले आलवारों से लेकर राम का भी निरंतर उल्लेख मिलता है । कुलशेखर के पदों में प्रौढ़ राम-भक्ति संबंधी काव्य-रचनाओं की संख्या बढ़ने लगी जिनमें स्रोतों का स्थान प्रमुख है । वैसे श्री राम सहस्रनाम स्तोत्र' रामक्षास्तोत्र आदि पंद्रहवीं शताब्दी से लेकर समस्त राम काव्य

भक्ति भाव में ओत-प्रोत होने लगा ।

वस्तुत: रामभक्ति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के बाद ही इसका 'श्री संप्रदाय' में शास्त्रीय प्रतिपादन भी किया गया । शास्त्र का ही सहारा पाकर रामभक्ति की प्रतिष्ठा और इसके क्षेत्र का विस्तार भी दिनोंदिन बढ़ने लगा । श्री संप्रदाय के प्रवर्तक रामानुज ने रामभक्ति के विषय में तो कुछ नहीं लिखा है; उनकी भक्ति नारायण में केंद्रीभूत थी । फिर भी उन्होंने अपने श्री भाष्य में अवतारों में राम और कृष्ण दोनों का उल्लेख किया है । बाद में उनके संप्रदाय में पहले पहल परम पुरुष के अवतार राम तथा मूल प्रकृति सीता की दास्य भक्ति का प्रतिपादन किया गया है । 'अगस्त्य संहिता' कतिराधव, 'वृहद राघव' और 'राघवीय संहिता' नामक रामभक्ति संबंधी संहिताएँ मिलती हैं । इसके अतिरिक्त श्री संप्रदाय में तीन उपनिषदों में राम-पूजा का भी निरूपण मिलता है । 'राम-पूर्वतापनीय (11वीं शती) तथा 'रामोत्तर तापनीय एवं 'राम-रहस्योपनिषद्' । सच तो यह है कि जन सामान्य में रामभक्ति की लोकप्रियता का श्रेय बहुत कुछ रामानंद को है । श्री संप्रदाय में दीक्षित होकर उन्होंने रामभक्ति को एक नया रूप देकर 'रामावत संप्रदाय' बनाया । उन्होंने राम को ही अपना इष्ट माना और राम-नाम को अपनी साधना का मूलमंत्र बनाया । इससे रामभक्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला और यह समस्त उत्तर भारत में फैल गया । शायद यही कारण है कि रामानंद को रामभक्ति साहित्य के मूल प्रेरक के रूप में माना जाने लगा ।

इसी आधार पर बहुत-सी सांप्रदायिक रामायणें भी बनीं जिनमें 'अध्यात्म रामायण', 'आनंद रामायण' अद्‌भुत रामायण' तथा 'मुशुंडी रामायण' प्रमुख हैं । आध्यात्म रामायण ही बाद में रामचरित मानस (तुलसी) जैसे प्रबंध काव्य का आधार ग्रंथ भी बन गयी । इस प्रकार राम-भक्ति जनसाधारण में अत्यंत लोकप्रिय होने लगी ।

आदि कवि वाल्मीकि के अनेक शताब्दियों पूर्व रामकथा को लेकर आख्यान काव्य की सृष्टि होने लगी थी, किन्तु वाल्मीकि रामायण ही प्राचीनतम उपलब्ध राम भक्ति काव्य है । इसकी रचना संभवत: चौथी शताब्दी पूर्व के अंत में हुई थी । नाटक तो काव्य के पूर्व ही लिखे जाने लगे थे । हरिवंश पुराण में लिखा है कि बहुत पहले से ही राम के जीवनवृत्त को लेकर लोग नाटक खेला करते थे । रामचरित को लेकर धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त संस्कृत में जिन विशुद्ध साहित्यिक काव्यों का निर्माण हुआ इनमें कालिदास का 'रघुवंश' अपेक्षया प्राचीन है । इसके बाद की रचनाओं में भट्टिकाव्य कुमारदास का जानकीहरण', अभिनन्दन का 'रामचरित' क्षेमेन्द्र का 'रामायण मंजरी' सांकल्यमल्ल का 'उदार राघव आदि हैं । नाटकों में भासकृत 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' भवभूति के उत्तर रामचरित और 'महावीर चरित', राजशेखरकृत 'बाल-रामायण', 'महानाटक या हनुमान नाटक' तथा जयदेवकृत 'प्रसन्न राघव' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं । 'कथा-साहित्य में राम-वृत्त कम है । हाँ सोमदेव कृत 'कथासरित-सागर' में इसका उल्लेख कई स्थलों पर है ।

संस्कृत के अलावा तमिल में 'कवच रामयण' कनाटी भाषा में नरहरि की रचना, मराठी में एक नाम की रचना, उड़िया में बलरामदास की रचना सामने आयी । इसी क्रम में गोस्वामी तुलसीदास की भी रचना आई । बंगला में कृतिवास रामायण और असमिया में दुर्गावार कृत 'गीतिरामायण' तो काफी प्रसिद्ध हैं । तेलुगु में 'रंगनाथ रामायण 'बारहवीं शती में 'छिपदा छंद में रचित तथा रंगनाथ नामक सामंत को समर्पित 'भास्कर रामायण', 'मोल्ला रामायण' है । मलयालम् भाषा में 'रामचरित मौलिक काव्य' तथा वाल्मीकि रामायण का अनुवाद भी है । ब्राह्मण राम साहित्य की प्रसिद्ध रचना 'तोखेरामायण' है । एक काव्य 'मैरावण काव्य' नाम से भी मिलती है ।

आधुनिक आर्यभाषाओं का राम-काव्य राम भक्ति के पूर्ण विकास के पश्चात् ही सामने आया, जिनपर

राम-भक्ति की गहरी छाप है । इनमें उत्तर भारत में तुलसीकृत 'रामचरित मानस' तथा 'कृत्तिवासी रामायण' दोनों अपने-अपने भाषा क्षेत्र में अत्यंत लोकप्रिय हैं । बंगला में फिर अनेक रचनाएँ आईं, जैसे चंद्रावती कृत 'रामायण' (सोलहवीं शती); रामानंदकृत 'रामलीला' (सत्रहवीं शती) कविंचद्रकृत 'अंगद रैबट' (अठारहवीं शती) रघुनन्दन गोस्वामी कृत 'रामरसायन' (अठारहवीं शती) आदि । गुजराती में भालण का 'सीता-स्वयंवर' एवं राम-विवाह' प्राचीनतम काव्यग्रंथ है । हाल में अशासन की 'रामलीला विषयक पदावली प्रकाश में आई है जो चौदहवीं शती की रचना है । मराठी में सबसे प्राचीन तथा सबसे प्रचलित रामकाव्य 'भावार्थ रामायण' है । उड़िया में सबसे प्रसिद्ध रामायण के तीन नाम मिलते हैं : 'जगमोहन रामायण' बलरामदास रामायण और 'दण्डिरामायण' काश्मीरी में दिवाकर प्रकाश भट्ट कृत 'कश्मीरी रामायण' तथा नेपाली भाषा में अनूदित भानुभट्ट की 'अपना रामायण' प्रसिद्ध हैं ।

विदेशी में रामकथा का प्रसार पहले-पहल बौद्धों द्वारा हुआ । 'अनाम जातक' तथा 'दशरथ कथानम' का तीसरी और पाँचवी शती में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था । आठवीं शती में तिब्बती भाषा में तिब्बती रामायण' लिखी गई । पूर्वी तुर्किस्तान में नवीं शती में 'खोतानी रामायण' लिखी गयी । ऐसे ही हिंदेसिया तथा हिंदचीन में भी राम काव्य मिलते हैं ।

हिंदी में तो आदिकाल में ही रामानंद द्वारा रामभक्ति के प्रचार ने रामकाव्य लिखने की एक अविच्छिन्न धारा बहायी थी । गोस्वामी तुलसी के पूर्व हिन्दी में रामसाहित्य बहुत विस्तृत नहीं है । रामानंद के कुछ भक्ति विषयक पदों तथा सूर के 'सूरसागर' में राम-कथा के कुछ मार्मिक स्थलों के सिवा लगभग कुछ नहीं है । 'पृथ्वीराजरासो' में 'देशावतार कथा' के अंतर्गत रामकथा विषयक लगभग एक सौ छंद मिलते हैं । ईश्वरदास की रचना में 'रामचरितमानस' का पूर्वाभास मिलता है । ईश्वरदासकृत 'रामजन्म' कथा 'अंगद पैज' नामक कृतियाँ सुरक्षित हैं । तुलसी के समकालीन कवियों में केवल 'अग्रदास' तथा उनके शिष्य 'नाभादास' ने राम-काव्य की सृष्टि की है । अग्रदासकृत पदावली तथा ध्यान मंजरी एवं नाभादासकृत 'रामचरित के पद' प्राप्त होते हैं । इनके अलावा तुलसी के समकालीन काव्य ग्रंथ हैं : 'रामप्रकाश' (सुतिलाल) 'राम-चंद्रिका' (केशवदास) आदि रामायण (सोढ़ी मेहरबान) रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) 'हनुमान्नाटक' (हृदयराम) 'लक्ष्मणायन' (रामानन्द) 'राम रासो' (माधौदास) आदि । तुलसी के बाद के शेष काव्य यों हैं - हुनम्मचरित्र (रामलाल पाण्डेय), अवधविलास (लालदास), कवित्त रत्नाकर (सेनापति) अवतारचरित (नरहरिदास) आदि ।

गोस्वामी तुलसीदास ने चार प्रबंध लिखे । उनका काल 1532 से 1623 माना जाता है । 'रामचरितमानस' तथा तीन खंडकाव्य - रामलला नहछू 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' उनके मुक्तक काव्यग्रंथों में 'रामाज्ञो प्रश्न', 'दोहावली', तथा 'वरवै रामायण' हैं । फिर विनय पत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली तथा 'कवितावली' और 'बाहुक' उपलब्ध है । इनमें अधिकतर रचनाओं का विषय राम-कथा से संबंधित है ।

रीतिकाल में भी रामकाव्य लिखे गये । 'रामचरित रामायण' (भूपति), गोविंद रामायण (गुरुगोविंद सिंह) 'दशरथ राय' (सुखदेव मिश्र) बालचरित (केशवकवि) श्री रामायण (झामदास) 'राम रसायन' (पदमाकर) सुप्रसिद्ध स्तोत्तम (रूद्र प्रताप सिंह) 'सीताहरण' (मैथिल कवि शिवदत्त) ये सब उल्लेखनीय हैं । इनके अलावा इस काल में कृष्ण-काव्य की गहरी छाप लिए और संस्कृत काव्य से पद्यानुवादपरक राम काव्य भी सामने आए । बाद में रामकवि का हनुम्मनाटक 'विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन', ईश्वरी प्रसाद कृत 'रामायण' मधुकर कृत राम लीला -बिहार तथा हरिराम कृत 'जानकी रामचरित' प्रमुख हैं ।

हिन्दी के आधुनिक काल में 'रामकहानी' (सुधाकर द्विवेदी) रामचर्चा - (प्रेमचंद) युग-पुरुष (अक्षय कुमार जैन) सीता-बनवास (छेदी) । इस काल में रामकथा विषयक नाटकों की भरमार सी आई । निम्नलिखित प्रबंधात्मक कृति भी महत्त्वपूर्ण है : राम-रसायन (रसिक बिहारी) विश्राम-सागर (रघुनाथ दास) अवध विलास (बाघेली कुँवरि) कोशल-किशोर (बलदेव मिश्र) 'श्री रामावतार) (सिरस) राममेड़या (वंशीधर शुक्ल) तथा श्री रामचंद्रोदय (रामनाथ ज्योतिष) प्रमुख हैं ।

सन् 1920 के बाद का खड़ी बोली हिन्दी का 'राम काव्य' अपेक्षया समृद्ध है - 'राम की शक्ति पूजा (निराला), 'दक्षिणा' और 'पंचवटी' (मैथिली शरणगुप्त) आदि छोटी-छोटी रचनाओं के अतिरिक्त निम्नलितिख महाकाव्य (प्रबंध काव्य) भी अपना साहित्यिक मूल्य रखते हैं : ''रामचरित चिंतामणि (रामचरित उपाध्याय सन् 1920) साकेत (मैथिलीशरण गुप्त 1929 ई०) वैदेही वनवास (अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, सन् 1939) 'साकेतनंद (बलदेव प्रसाद मिश्रा, सन् 1946), 'कैकेयी' (केदारनाथ मिश्र प्रभात, सन् 1950) 'उर्मिला (बालकृष्ण शर्मा नवीन, (अप्रकाशित) ।

निसर्गत: कहा जा सकता है कि हिन्दी में रामकाव्य का प्रारंभ मूलत: भक्ति-काव्य के रूप में होता है, परन्तु उपर्युक्त रचनाओं में अधिकांश विशुद्ध रूप से ललित साहित्य की रचनाएँ ही हैं ।

9.6 अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ

भक्तिकाल में निर्गुण-सगुण भक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ गौण काव्य-प्रवृत्तियाँ भी लक्षित होती है, जिनका उल्लेख भी अपेक्षित है । ये हैं - वीरकाव्य, प्रबंधात्मक चरितकाव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य एवं रीतिकाव्य ।

वीरकाव्य - आदिकाल की भाँति इस युग में वीरकाव्यों की स्वतंत्र स्थापना भी हुई - ऐसे काव्य प्राय: राजाश्रय में लिखे गए । इस काल में वीरकाव्य की रचना करनेवाले प्रमुख कवि और काव्य निम्नलिखित हैं - श्रीधर कृत 'रणमल्ल छंद', नल्हसिंह कृत 'विजयपाल रासो', राउ जैतसी कृत 'राउ जैतसीरासो', दुरसाजी आढा कृत 'विरूद छिहत्तरी', दयाराम कृत 'राणा रासो' कुम्भकर्ण कृत 'रतन रासो', न्यामत खाँ जान कृत 'क्याम खाँ रासो' ।

प्रबंधात्मक चरितकाव्य - भक्तिकाल में सद्यारू अग्रवाल, शालिभद्र सूरि, गौतम सरकार, जाखू मणियार, देवप्रभ और पद्मनाम ने कुछ चरितमूलक प्रबंधकाव्यों की रचना की है जिसमें रचनाएँ हैं - सुधारू अग्रवाल कृत 'प्रद्युम्नचरित', शालिभद्र सूरिकृत 'पंचपाण्डवचरितरास', जाखू मणियार कृत 'हरिचन्द पुराण', देवप्रभु कृत 'कुमारपाल रासो', पद्मनाम कृत 'कान्हड़ दे प्रबंध' ।

नीतिकाव्य - भक्तिकाव्य में नीतिकाव्य के तीन रूप प्राप्त होते हैं । (1) कबीर, नानक, दादू आदि संतों की रचनाओं में नीति-संबंधी पद धर्मोपदेशों के अंग रूप में कहे गये थे, (2) रामचरितमानस, पद्मावत प्रभृति प्रबंध काव्यों में यत्र-तत्र नीति-संबंधी उपदेश कथाक्रम में अनुवांशिक रूप में मिलते हैं, (3) कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने नीतिकाव्य की ही रचना की है । तृतीय वर्ग के प्रमुख कवि जैन मतावलम्बी हैं । इसमें प्रमुख हैं - पद्मनाम कृत 'डूंगर बावनी', छीलन कवि कृत 'छीहल बावनी', देवीदास कृत 'राजनीति के कवित्त', उदैराज की 'उदैराज को दूहा', कवि बनारसी दास कृत 'नवरस पद्यावली', 'समयसार नाटक', बनारसी-विलास', 'अर्द्धकथानक' 'भाषा सूक्तिमुक्तावली', आदि ।

अकबरी दरबार का काव्य - अकबर के दरबार में हिन्दी कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था । वे हैं, चतुर्भुजदास,

आसकरण, पृथ्वीराज, मनोहर, टोडरमल, नरहरि, बीरबल, ब्रह्म, गंग, तानसेन, और रहीम । इन कवियों ने भी काव्य रचनाएँ लिखी हैं ।

रीतिकाव्य – रीति निरूपण की प्रवृत्ति यद्यविभक्ति के प्रखर प्रवाह की तुलना में अत्यक्ष क्षीण रही – फिर भी भक्तिकाल में सहज ही इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है । इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं – कृपाराम, रीतिकवि सूरदास, नन्ददास, केशवदास, रहीम, सुन्दर कविराम, न्यामत खाँ जान आदि ।

9.7 अभ्यास के प्रश्न

1. भक्तिकालीन काव्यधाराओं का विवेचन कीजिए ।
2. निर्गुण पंथी काव्यधाराओं का परिचय दीजिए ।
3. सगुण पंथी काव्यधाराओं का उल्लेख कीजिए ।

भक्तिकालीन विचारधाराएँ

पाठ संरचना

10.0 उद्देश्य
10.1 परिचय
10.2 सिद्धों, नाथों का प्रभाव
10.3 बौद्धों का परवर्ती रूप
10.4 अद्वैत भाव
10.5 सूफी प्रभाव
10.6 विशिष्टाद्वैत का प्रभाव
10.7 वल्लभ वेदान्त दर्शन का प्रभाव
10.8 अभ्यास के प्रश्न

10.0 उद्देश्य

भक्ति आन्दोलन की यह विशेषता थी कि उसने राजनैतिक और सामाजिक रूप से अशांत उत्तर भारत को एकता के प्रगाढ़ सूत्र में आबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयत्न किया था । जिस समय उत्तर भारत में भक्ति का नवीन उन्मेष प्रस्फुटित हुआ था, उस समय इस्लाम की एकता और समानता का सिद्धान्त हिन्दू समाज के उपेक्षित, पीड़ित और दलित वर्ग के लिए आकर्षण का कारण बन गया था । यह आन्दोलन विषम स्थितियों में भारतीय चिन्तन धारा का सचमुच स्वाभाविक विकास था । इस इकाई का उद्देश्य भारतीय भक्तिकालीन चिन्तनधारा से पाठकों को परिचित कराना है ।

10.1 परिचय

भक्ति आन्दोलन मूलत: हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की आंतरिक असंगतियों, विकृतियों और रूढ़ियों का उन्मूलन करने के लिए हुआ था । इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भक्ति-आन्दोलन के समय संपूर्ण भारतवर्ष अखण्ड था, एक था और परस्पर प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध था । यही कारण था कि देश के एक कोने से (दक्षिण से) उठा हुआ भक्ति का स्वर सम्पूर्ण देश में परिव्याप्त हो गया । सुदूर दक्षिण में केरल के शंकराचार्य का अद्वैतवाद भारतवर्ष में विचार का विषय बन गया । इस आन्दोलन ने विभिन्न धर्मों, मतों, सम्प्रदायों में बँटे हुए भारतीय जन को पुन: एक सूत्र में बाँध दिया था ।

भक्तिकाल के विकास के साथ ही उसमें अनेक तरह के दार्शनिक मतों के अलावा अनेक तरह की

विचारधाराओं का भी प्रभाव पड़ा । पूर्व से चली आती हुई भक्तिधारा की चेतना सिद्ध-नाथ पंथियों की साधना तथा बौद्धों एवं अद्वैतवादियों की वैचारिक उपपत्तियाँ-सबका प्रभाव इस आन्दोलन पर पड़ा ।

10.2 सिद्धों, नाथों का प्रभाव

समस्त भारत में भक्ति आन्दोलन के दो रूप मिलते हैं - एक प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित रूप; दूसरा अशिक्षित निम्नवर्गीय साधकों द्वारा स्थापित रूप । इस रूप में सामाजिक अन्याय के प्रति विरोध का उग्र और तीखा स्वर तो अवश्य रहा, परंतु ये सिद्धगण धर्म या भक्ति का कोई सुचिंतित स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके जो समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्रभावित कर पाता । बौद्ध धर्म के परवर्ती सिद्ध साधकों ने इस रूप को जन्म दिया था । सन्त काव्य और सन्त दर्शन पर नाथ पंथ और सिद्ध पंथों का प्रचुर प्रभाव है । नाथपंथी कवियों एवं विचारकों के शून्यवाद, उनके द्वारा गुरु की प्रतिष्ठा और सृष्टि क्रम, आत्मा, जीव आदि के विषय में उनकी मान्यताओं से सन्त कवि अनेकशः प्रभावित रहे हैं । सन्त साधना में योग प्रक्रिया की जो प्रधानता है, उसका मूल स्रोत नाथ पंथी साधना पद्धति ही है । तन्त्र साधना का भी संत मत पर प्रभाव रहा है । यद्यपि कबीर ने स्पष्टतया कहा है- 'तन्त्र न जानूं, मंत्र न जानूं, जानूं सुन्दर काया', तथापि कबीर के अन्तर उसकी परम्परा में अवतरित और विकसित सम्प्रदायों में तंत्र साधना का स्वरूप प्रमुख रहा । मलूक पंथ और निरंजनी सम्प्रदाय में इस प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है ।

सिद्धों के साहित्य में मुख्यतः गुरु महिमा, कमल-कुलिश-साधना, सहज मार्ग साधिका के प्रति प्रणय निवेदन नारी सौंदर्य, अन्य धर्मों का खण्डन आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है जहाँ तक हिन्दी के सन्तकाव्य एवं सिद्ध साहित्य के साम्य की बात है । दोनों में अनेक समानताएँ मिलती हैं । सन्तों की भाँति सिद्ध कवि भी जनता के निम्न वर्गों से संबंधित थे, जिन्होंने उच्च वर्ग की परम्परागत मान्यताओं का खण्डन निर्भीकतापूर्वक किया । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट किया है - सिद्धों ने भी वर्ण व्यवस्था एवं जाति प्रथा का विरोध उसी तर्कपूर्ण शैली में किया था जो बाद में संतों में मिलती हैं । यथा सरहपाद कहते हैं - 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, तब हुए थे, इस समय तो वे भी दूसरे लोगों की तरह उत्पन्न होते हैं । तो फिर उनमें ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? यदि कहा जाए कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाए । साथ ही इन्होंने सहज साधना पर विशेष बल दिया; कबीर आदि ने भी सहज ही विशेषता स्वीकार की है, यह दूसरी बात है कि दोनों की सहजता का आदर्श भिन्न-भिन्न है । जहाँ सिद्ध कवि 'सुख से खाते-पीते व रमण करते हुए, सृष्टि के चक्र का पूर्णतः अनुसरण करते हुए परलोक की सिद्धि एवं इस लोक के भय के निराकरण को 'सहज साधना' कहते हैं, वहीं संत नाथ, सूफी कवि दिव्य प्रेम की सहज अनुभूति को ही सहज साधना मानते हैं । इसी प्रकार प्रेम तत्त्व एवं दाम्पत्य जीवन के रूप को भी दोनों वर्गों के काव्य में स्थान मिलता है, यद्यपि मूल भावना की दृष्टि से उनमें थोड़ा अन्तर भी है । सिद्धों का प्रेम एवं दाम्पत्य जीवन शारीरिकता एवं कामुकता पर आधारित है, जबकि सन्तों ने उसे सूक्ष्म आध्यात्मिक मिलन के रूप में प्रतिष्ठित किया ।

सिद्ध-साहित्य ने हमारे धार्मिक विश्वास एवं विचार प्रणाली को अखण्ड रूप में प्रभावित किया । भक्तिकाल एवं रीतिकाल में परकीया वर्णन एवं गोपी-गोप अभिसार का अनुकरण कबीर की उलटबासियों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है । भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है । भक्तों के अवतारवाद पर महायान शाखा का प्रभाव स्पष्ट है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव स्वीकार किया है । डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात से बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदिरूप की

सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है । चारणकालीन साहित्य तो केवल तत्कालीन राजनीतिक जीवन की छाया है । यह सिद्ध-साहित्य शताब्दियों से आनेवाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है । भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह साहित्य का महत्त्वपूर्ण काल है ।'' सिद्धों के चर्यापदों ने जयदेव, विद्यापति, सूरदास आदि परवर्ती कवियों की गीतशैली को प्रेरणा प्रदान की ।

नाथ साहित्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा - ''इसने संतों के लिए श्रद्धाचरणप्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी । जिन संत साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी-बनाई भूमि मिली थी ।'' नाथों ने अपना आन्दोलन भारतीय जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल प्रारंभ किया था । उन्होंने ईश्वरवाद की निश्चित धारणा प्रस्तुत की तथा विकृत धार्मिक रूढ़ियों पर आघात कर उन्हें समाप्त करने की चेष्टा की; जीवन को अधिक-से-अधिक सदाचार एवं समय के अनुशासन में रखने की शिक्षा दी तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की स्थापना की । हमारे हिन्दी साहित्य की परवर्ती कृतियों में आचरण की पवित्रता से संबद्ध जो स्वर मुखरित है, उसका मूल प्रेरणास्रोत नाथ साहित्य ही है । यह साहित्य भारतीय चिन्तन विधि के विकास की कड़ी है । हिन्दी साहित्य के संत कवियों की विचारधारा पर इस साहित्य का अत्यधिक प्रभाव है ।

जैन साहित्य का महत्त्व हिन्दी साहित्य में इसलिए स्वीकार किया गया है कि अपभ्रंश से ही हिन्दी का विकास हुआ है । जैन साहित्य अपभ्रंश से ही प्रभूत मात्रा में लिखा गया है । हिन्दी के प्रारंभिक रूप का सूत्रपात करने में इस साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है । जैन साहित्य अत्यंत व्यापक है । महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य, लौकिक प्रेमकाव्य, धार्मिक काव्य, रूपक साहित्य, कथा-साहित्य, स्फुट काव्य, गद्य साहित्य आदि की नाना विधाओं का सूत्रपात इसी साहित्य से हुआ है ।

सूफियों ने भारत की धार्मिक उदारता को बढ़ावा देने में उल्लेखनीय योगदान किया और उत्तरी भारत में प्रचलित हिन्दू परम्परा को इस्लाम में स्वीकृति दिलायी । उन्होंने संगीत को भक्ति के माध्यम के रूप में ग्रहण किया । भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी सूफियों का योगदान अविस्मरणीय है । निजामी के शब्दों में सूफियों की खानकाहों में ही उर्दू भाषा का जन्म हुआ । उर्दू भाषा के आरंभिक ग्रंथ भी सूफियों द्वारा ही लिए गए । दूसरी ओर भारतीय भाषाओं में सूफियों की रचनाएँ लिखी गयी । बाबा फरीद और अनेक संतों ने जैसे-हुसैन शाह, बुल्ले शाह ने पंजाबी भाषा का प्रयोग अपने विचारों के प्रचार के लिए किया । शेख अहमद खट्टू ने गुजराती भाषा, कुतुबन, मंझन, जायसी इत्यादि ने अवधी, ब्रजभाषा का प्रयोग किया ।

धार्मिक उदारता के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान सूफियों ने शासक वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर किया । अधिकतर सूची शासक वर्ग से सम्पर्क नहीं रखते थे ताकि शासकों के अत्याचार में साझेदार न समझे जाएँ । इसके विपरीत वे दलित एवं शोषित वर्ग को समर्थन देने में विश्वास रखते थे । ऐसा करने में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम के भेदभाव को कभी नहीं माना । इस तरह उन्होंने एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया । सूफी संतों ने सामाजिक तथा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करते हुए आपसी एकता पर जोर दिया ।

10.2 बौद्धों का परवर्ती रूप

वज्रयान, सहजयान तथा पाशुपत मत योग-परम्परा, सूफी मत आदि ने भी भक्तिकाल की धाराओं को नई बातें

दीं । बौद्धों के वज्रदान में तंत्र-मंत्र का प्रभाव अधिक बढ़ा । फलस्वरूप भ्रष्टाचार का साम्राज्य बढ़ने लगा तो सिद्धों ने उन भ्रष्टाचारी सिद्धांतों का खंडन भी किया और फिर एक सहज मार्ग का नारा बुलंद किया । ये सिद्ध जीवन की सहज प्रवृत्तियों में विश्वास करते थे । इसी कारण इनके सिद्धांतों को सहजमार्ग कहा गया था । इन सिद्धों ने हिंदू, जैन तथा बौद्ध साधना पद्धतियों का विरोध करते हुए सहज साधना का प्रचार किया । ये लोग चित्त-शुद्धि पर विशेष बल देते थे और सहजावस्था की उपलब्धि को ही परम पुरुषार्थ मानते थे । उनके अनुसार बहुचित द्वारा बंधन मिलता है और मुक्त चित्र द्वारा मुक्ति मिलती है । जब चित्त खसम अर्थात् प्रकाश के समान शून्य रूप को धारण कर 'समसुख' अर्थात् संतुलित अवस्था में प्रवेश करता है तब उसे किसी भी इन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं होता । इस प्रकार इन सिद्धों ने जीवन में सदाचार, चित्तशुद्धि तथा निर्मल चरित्र को बहुत महत्त्व दिया; फिर विभिन्न साधना मार्गों, छाए हुए भ्रष्टाचार आडम्बर आदि का विरोध करना शुरू किया । कबीर आदि संत कवियों पर इस सहजयान का बहुत प्रभाव पड़ा ।

वेदान्त के एकेश्वरवादी आदर्श के विरूद्ध वैभाषिक प्रणाली का दावा यह था कि आत्मा जैसा कोई स्वतंत्र आध्यात्मिक तत्त्व मनुष्यों में नहीं है । मनुष्य भौतिक तथा मानसिक धर्मों का योग माना जाता था । धर्म पर शिक्षा ही प्रत्येक घटना में अन्तर्निहित परम सत्य है । यह बौद्ध धर्म की वैभाषिक प्रणाली का केन्द्रीय सिद्धांत था । धर्म के अस्तित्व के शाश्वत तत्त्व हैं और वे क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं । इनमें न केवल भौतिक वरन् आध्यात्मिक अथवा मानसिक तत्त्व भी होते हैं । भौतिक जगत के बारे में वे न केवल विकास के परमाणु सिद्धांत को स्वीकार करते थे, वरन् प्रत्येक वस्तु की क्षणभंगुरता पर भी जोर देते थे ।

योगाचार अथवा विज्ञानवादी आत्मनिष्ठ आदर्शवादी थे, जो बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे । उनके अनुसार मनुष्य किसी वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखता, क्योंकि मनुष्य और उस वस्तु के बीच संज्ञान आ जाता है । दूसरे शब्दों में यह कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष, संज्ञान से भ्रष्ट हो जाता है । अत: जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है वह और कुछ नहीं संज्ञान है । फलत: योगचार इस मत को स्वीकार करते थे कि केवल संज्ञान ही यथार्थ वस्तु नहीं ।

हिन्दू भक्त स्वयं देवी अथवा देवता बनकर परमानन्द को प्राप्त करता है । बौद्ध शून्य बनकर बुद्धत्व को प्राप्त करता है । बौद्ध तांत्रिकों का तर्क था कि बुद्ध शरीर के अन्दर रहते हैं । अत: बुद्धत्व हठयोग के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । कुछ नाड़ी केन्द्र पद्म, चक्र इत्यादि कहलाते हैं, गुप्त शक्ति के प्रवाहपथ हैं । तीन नाड़ियाँ जिनमें से दो रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर हैं । बायीं ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला तथा तीसरी, जो मध्य में है और सुषुम्ना कहलाती है, सबसे महत्त्वपूर्ण मानी जाती थीं । बायीं और दाहिनी नाड़ियाँ क्रमश: प्रज्ञा और उपाय की द्योतक थी और केन्द्रीय नाड़ी पूर्ण एकता, ज्योति अथवा बोध की नाड़ी थी । योग के अभ्यास द्वारा प्रज्ञा और उपाय एक-दूसरे से मिलाकर निम्नलिखित केन्द्र में बोधिचित्त अथवा ज्ञान की धारा में परिवर्तित की जा सकती थीं, जो मध्य नाड़ी से बढ़ती हुई अविचल आनन्द की अवस्था में पहुँच सकती थी ।

10.4 अद्वैत भाव

संतों पर अद्वैतवादी विचारधारा का भी काफी प्रभाव पड़ा था । इनका ज्ञान और उपदेश काफी दूर तक अद्वैतवादी विचारधारा पर आधारित है । संत कवि माया की सत्ता और जीव ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं ।

इस एकता में माया बाधक है । ज्ञान से इस माया का नाश किया जाता है । ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति-भावना को तो स्वीकार करते हैं, परंतु उनकी द्वैत भावना को नहीं । इनपर बौद्धों के शून्यवाद तथा सहजयानियों के सहज मार्ग का प्रभाव सिद्धान्तों की इसी एकता के आधार पर सत्यापित होता है ।

आठवीं शताब्दी में एक ओर तो गुप्तनरेशों की हिन्दू-धर्मनिष्ठा द्वारा बौद्धधर्म के विस्तार को आघात पहुँचा, दूसरी ओर कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने इसकी नींव ही हिला दी । तब भारत के एक बहुत बड़े भाग का परित्याग कर बौद्ध धर्म को तिब्बत, नेपाल तथा बंगाल की शरण लेनी पड़ी । शंकराचार्य के शैवमत से प्रभावित होकर और अपनी सारी दुर्बलताओं को जानकर इस धर्म ने तंत्र-मंत्र एवं अनियार के माध्यम से जनता को विमुग्ध करना प्रारंभ किया । इसने समाधि, तंत्र-मंत्र, डाकिनी-शाकिनी, भैरवीचक्र और मद्य-मैथुन में स्वयं को उलझाकर सदांचार को नष्ट कर दिया । मंत्र द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करनेवाले योगी सिद्ध कहलाए ।

शंकराचार्य ने व्यक्तिगत मानव आत्मा (जीवात्मा) और सर्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) के द्वैत से, आत्मा और पदार्थ के द्वैत से, इनकार किया । उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत आत्मा और इस घटनापूर्ण जगत का ब्रह्म से अलग कोई यथार्थ नहीं । और ब्रह्म तो अद्वितीय है ही । ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के भाष्य में शंकराचार्य ने ब्रह्म की इस प्रकार परिभाषा की है - "ब्रह्म वह है जो समस्त तत्त्वों का कारण है, जिसके फलस्वरूप वे अस्तित्वपूर्ण हैं और जिसमें अन्ततः वे विलीन हो जाते हैं । ब्रह्म अनादि है । वह अनन्त है । वह ही शुद्ध ज्ञान और सच्चे आनंद का दाता है । ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है । ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य की भूमिका में शंकराचार्य ने कहा, "कर्ता और कर्म आत्म और अनात्म गतिमयता में और व्यावहारिक जीवन में एक दूसरे के इतने अधिक विरोधी हैं । एक के बदले दूसरे का धोखा खा जाना असंभव है । तो भी हम देखते हैं कि सर्वत्र यह गलती हो रही है, और हम इस गलती की जड़ को नहीं पकड़ पाते । कारण यह है कि अपने सामान्य जीवन में हम यह प्रारंभिक गलती किए बिना नहीं रह सकते ।" "जब उदाहरण के लिए हम कहते हैं, मैं दुबला हूँ अथवा मैं अन्धा हूँ अथवा मैं ऐसा अनुभव करता हूँ तो हम आत्म और अनात्म अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मस्तिष्क को एक कर देते हैं । हम कर्ता से कर्म का धोखा खा जाते हैं । आत्मा को भ्रमवश इस पार्थिव शरीर और मस्तिष्क से एक मान लिया जाता है । अतः मैं अथवा अहं वास्तविक आत्मा नहीं है, क्योंकि वह शरीर और इन्द्रियों की सीमाओं से बाधित है, किन्तु यह शरीर किसी अन्य पार्थिव वस्तु की भाँति ही केवल दृश्यभ्रम मात्र है । यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है तो एकमात्र यथार्थ जो शेष रहता है वह आत्मा है - वह और कुछ नहीं, परम ब्रह्म है ।"

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म से साक्षात्कार का एक ही मार्ग था । यह मार्ग था : अद्वैत वेदांत । मनुष्य को जीवात्मा और परमात्मा की अभिन्नता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । उसे जीवात्मा को अप्रतिबंधित, निर्गुण ब्रह्म से जो एकमात्र यथार्थ है, मिला देना चाहिए । ज्ञान अथवा यथार्थ का संज्ञान, ब्रह्मा से एकाकार होने का साधन है । भक्ति और कर्म केवल मन को शुद्ध करने और साधक को ब्रह्म के निकटतर ले जाने के उपाय मात्र हैं । वे ज्ञान को प्राप्त करने में सहायक है । यदि मनुष्य चेतना के उस उच्च स्तर पर पहुँचना चाहता है जो सच्चे ज्ञान का स्तर है तो उसे इन्द्रियों और मस्तिष्क को पूर्णतः नियंत्रित कर लेना चाहिए । सभी सांसारिक आकर्षणों को त्याग देना चाहिए और इस लौकिक जीवन के भ्रामक स्वरूप को पहचान लेना चाहिए ।

शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धांत की पुष्टि करके पौराणिक भक्तिमार्ग के औचित्य पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया था, जब आत्मा और परमात्मा एक ही है, तो एक दूसरे के भक्ति का विचार ही अव्यावहारिक सिद्ध हो जाता है ।

यद्यपि भावात्मक धर्म की प्रतिष्ठा इससे पूर्व भगवत्गीता में भली-भाँति हो चुकी थी, किन्तु शंकराचार्य ने उसकी भी नई अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत कर दी थी ।

10.5 सूफी प्रभाव

सूफी मत के भावात्मक रहस्यवाद ने भी इस भक्ति धारा को बहुत कुछ प्रभावित किया । नीरस ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेम-भावना का प्रभाव पड़ने से उसमें सरसता आ गयी थी । हठयोगियों के नाथ-पंथ का भी भक्तिधारा के संतों पर काफी प्रभाव पड़ा । उन्होंने हठयोग को ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बना लिया था, परंतु ये सारे प्रभाव लगभग गौण ही रहे । भक्ति सरस धारा का वास्तविक विकास तो रामानंद और बल्लभाचार्य के प्रयत्नों द्वारा ही संभव हुआ । उसमें भी सगुण भक्ति धारा निर्गुण भक्ति धारा की तुलना में अधिक प्रभावकारी और व्यापक रही । निर्गुण भक्तिधारा अपनी नीरसता के कारण साहित्य के सरस क्षेत्र को अधिक प्रभावित नहीं कर सकी ।

सूफी मत इस्लाम-धर्म से प्रादुर्भूत, इस्लाम-धर्म की शरीयत (कर्मकांड) की प्रतिक्रिया का परिणाम है । यद्यपि सूफियों ने अपने मत को इस्लाम-धर्म से पूर्णत: पृथक रूप में स्वीकृत किया है, तथापि उनपर उक्त धर्म का प्रभाव स्थल-स्थल पर अवश्य विद्यमान है । सूफी मत को प्रभावित करनेवाले निम्नलिखित चार प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं ।

1. भारतीय अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद
2. इस्लाम की गुघ विद्या
3. नव-अफलातूनी मत
4. वैचारिक स्वतंत्रता

सूफी अत्यधिक मुलायम तबीयत के मुसलमान हैं । उनका कथन है कि उनके सूफी मत का आदम में बीजवपन हुआ, नूह में अंकुर फूटा, इब्राहीम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में फलागम हुआ । इस कथन का स्पष्टीकरण ऐतिहासिक सूत्रों में भी सम्बद्ध है ।

सूफी मत का आदि आगम शामी जातियों की आदिम प्रवृत्तियाँ हैं । कुछ समय तक शामी जातियाँ सूफी मत के रतिभाव का विरोध करती रहीं; पर बाद में मूसा एवं मुहम्मद साहब के लौकिक प्रेम पर बल देने एवं संयत भोगविधान का समर्थन करने पर वे भी इसकी समर्थिका हो गईं । सूफियों ने इलहाम और हाल की दशा शामी जातियों से ही ग्रहण की । सूफियों की वीरपरस्ती और समाधि पूजा भी शामियों की देन है ।

निर्गुण संतों में कबीरदासजी हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे । पंडितों और मुल्लाओं के विषय में तो नहीं कहा जा सकता, पर साधारण जनता राम और रहीम की एकता मान चुकी थी । कबीर आदि संतों ने जिस एकता को सम्पन्न करने के लिए अथक प्रयत्न किया, उसे सूफियों ने अपेक्षाकृत अधिक सफलता के साथ पूर्ण किया । आचार्य शुक्ल जी के अनुसार "जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी । मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिन्दू मुसलमानों का दास्ताने हमजा । नल और दमयंती की कथा मुसलमान जानने लगे और लैला मजनूं की हिन्दू । ईश्वर तक पहुँचवाले मार्ग भी ढूँढ़ने की सलाह दोनों कभी साथ-साथ बैठकर करने लगे थे ।

10.6 विशिष्टाद्वैत का प्रभाव

रामानुजाचार्य के अनुसार द्वैत रहित अद्वैत और अद्वैत शून्य दोनों ही कोरी कल्पना हैं, क्योंकि भेद के बिना

अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नहीं होता । अत: दोनों सदा साथ रहते हैं और इनमें पार्थक्य संभव नहीं है । तत्त्व सदा द्वैत विशिष्ट-अद्वैत होता है । इसी का संक्षिप्त रूप विशिष्टाद्वैत है । द्वैत विशेषण है; अद्वैत विशेष्य है और विशेषण युक्त विशेष्य को विशिष्ट कहते हैं । विशिष्ट अद्वैत या अद्वितीय होता है । भेद या द्वैत उसके विशेषण या अंग हैं । विशेष्य अंगी है । विशेषण विशिष्ट विशेष्य ही विशिष्ट है और यह अद्वैत है जो सदा द्वैत से विशिष्ट रहता है । द्वैत और अद्वैत में अपृथक सिद्ध संबंध है, क्योंकि इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता । यद्यपि रामानुज ने द्वैत और अद्वैत दोनों को सत्य और अपृथक माना है तथापि दोनों के समान स्तर के नहीं मानते । अद्वैत मुख्य है और द्वैत गौण है । अद्वैत आत्मरूप है, द्रव्य है, अंगी हैं । द्वैत शरीर रूप है, गुण है, अंग है । अद्वैत विशेष्य है, द्वैत विशेषण है । अत: द्वैत अद्वैत पर आश्रित रहता है । द्वैत अद्वैत का विशेषण बनकर ही उससे अपृथक रहता है । यह विशिष्ट द्वैत है जो द्वैताद्वैत से भिन्न है, क्योंकि द्वैत और अद्वैत दोनों समान रूप से सत्य और एक ही स्तर के होते हैं । रामानुज चित, अचित और ईश्वर इन तीनों तत्त्वों को (तत्त्व-त्रय) मानते हैं । चित् चेतना भोक्ता जीव है । अचित् जड़ भोग्य जगत है । ईश्वर दोनों का अन्तर्यामी है । चित् और अचित् दोनों नित्य और परस्पर स्वतंत्र द्रव्य हैं । किन्तु दोनों ईश्वर पर आश्रित हैं और सर्वथा उनके अधीन हैं । दोनों स्वयं में द्रव्य हैं, किन्तु ईश्वर के गुण या धर्म हैं । दोनों ईश्वर के शरीर हैं और ईश्वर उनका अन्तर्यामी आत्मा है । जीव अपने शरीर का आत्मा है, किन्तु ईश्वर का शरीर है जो जीव का भी आत्मा है । शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपृथक सिद्धि है जो आन्तरिक अपार्थक्य संबंध है । यही संबंध द्रव्य और गुण में अंगी और अंग में होता है और एक स्वतंत्र द्रव्य तथा तदाश्रित अन्य द्रव्य में भी होता है । जिस प्रकार रथ चक्र में डंडे बंधे रहते हैं, उसी प्रकार जीव और जगत् परमात्मा में आबद्ध रहते हैं । परमात्मा अग्निवत् है, जीव जगत् स्फुलिंगवत हैं । जीव और जगत सत्य है । परमात्मा उनका भी सत्य है - वह सत्यों का सत्य है ।

रामानुजाचार्य की परम्परा में राघवानंद हुए । उन्होंने उपासना के लिए वैकुण्ठनिवासिनी विष्णु का रूप लेकर लोक में लीला करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया । राघवानंद की शिष्य परंपरा में रामानंद आते हैं । इन्होंने विष्णु के अन्य रूपों में राम के रूप को लोक लिए अधिक कल्याणकारी समझकर अलग कर दिया । रामानुजाचार्य ने केवल ब्राह्मणों के लिए भक्ति का विधान किया था, किन्तु रामानंद जी ने सभी जातियों एवं वर्गों को भक्ति का अधिकारी स्वीकार किया । उनकी भक्ति का मूल मंत्र था -

जाति-पाँति पूछे नहि कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई ।

तुलसी के पूर्व हिन्दी में रचित महाकाव्य प्राय: अप्रकाशित है । भक्ति में लोकसंग्रह की भावना सर्वप्रथम रामानंदजी में अंकुरित हुई, जिसका पल्लवित रूप गोस्वामी तुलसीदास में मिलता है ।

10.7 वल्लभ वेदान्त दर्शन का प्रभाव

वल्लभ सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग कहलाता है । शुद्धाद्वैत का विग्रह षष्ठीतत्पुरुष और कर्मधारय दोनों प्रकार के समासों में किया जा सकता है । षष्ठी तत्पुरुष समाज के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है - शुद्धयो: अद्वैतम्, अर्थात् शुद्ध जगत और जीव का ब्रह्म से अद्वैत: जगत और जीव का शुद्ध ब्रह्म रूप हैं और ब्रह्म से अभिन्न हैं । कर्मधारय समास के अनुसार, शुद्धाद्वैत का अर्थ है - शुद्धं च तत् अद्वैतम् अर्थात शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है । शुद्ध

का अर्थ है माया सम्बन्ध रहित और अद्वैत का अर्थ है सजातीय-विजातीय स्वगत द्वैतवर्जित । शांकरवेदान्त द्वारा भ्रान्तिरूपा सदसदनिर्वयनीया माया ब्रह्म का स्पर्श भी नहीं कर सकती । इस प्रकार की कल्पित माया से ब्रह्म का कोई संबंध नहीं है । अतः ब्रह्म मायाकलुषित न होकर शुद्ध है । ब्रह्म के सजातीय जड़ पदार्थ और स्वगत अन्तर्यामी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है, अतः ब्रह्म इस त्रिविध भेद या द्वैत से रहित अद्वैत तत्त्व ही है । अतः इस बात का शुद्धाद्वैत नाम सार्थक है । इसे पुष्टिमार्ग भी कहते हैं । पुष्टि का अर्थ है भगवान का अनुग्रह । श्रीमद्भागवत में पोषण या पुष्टि को भगवदनुग्रह बताते हुए इसे ही भगवतप्राप्ति का एकमात्र कारण माना गया है । वल्लभाचार्य ने भागवत् ने इस रहस्य को अपने पुष्टिमार्ग में सम्पुष्ट किया है । पुष्टिमार्ग ज्ञान, कर्म आदि से निरपेक्ष है । यहाँ शरणागत के अतिरिक्त अन्य कोई साधन या यत्न नहीं है । यहाँ भगवदनुग्रह से ही सिद्धि होती है । यत्न तो विघ्न उत्पन्न करते हैं । केवल अनुग्रह द्वारा ही साध्य होने के कारण यह मार्ग मर्यादामार्ग से भिन्न है ।

वल्लभ मत में ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है । ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट है एवं विरूद्धधर्माश्रय भी है । ब्रह्म में विरूद्ध धर्मों की स्थिति स्वाभाविक है, मायिक नहीं । ब्रह्म कार्य और कारण दोनों रूपों में शुद्ध है । भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है । भगवान की शक्ति और महिमा अनन्त है । वे एक भी हैं अनेक भी हैं । निर्विशेष निर्गुण भी हैं और सविशेष सगुण भी हैं । वे परमस्वतंत्र हैं और भक्ताधीन भी हैं । वे सच्चिदानंद हैं । वे अणु से अणु और महान से महान हैं । वे अपने सत् चित् और आनंद स्वरूप का अपनी इच्छारूपी शक्ति से विविध अंशों में आविर्भाव और तिरोभाव करते हुए जड़ जगत, चेतन जीवों और अन्तर्यामी नियामकों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं । यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, माया-कल्पित नहीं । यह जगत् और जीव ब्रह्मरूप होने से सत्य और नित्य हैं । माया ब्रह्म की वास्तविक अघटित - घटनापटीयसी शक्ति है जो उन्हीं में स्थित रहती है । अविद्या इस माया का भ्रांतिजनक पक्ष है । इससे जीवों में ज्ञान का तिरोभाव और अज्ञान का आविर्भाव होता है ।

ब्रह्म त्रिरूप है । अधिवैदिक परब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म और आधिभौतिक जगत् । गीता में जगत् या प्रकृति को क्षरपुरुष तथा आत्मा को अक्षरपुरुष एवं परब्रह्म को क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम कहा गया है । अक्षर ब्रह्म विशुद्ध-ज्ञान स्वरूप है और ज्ञानमार्ग द्वारा इसी की प्राप्ति संभव है । पुरुषोत्तम पर ब्रह्म अखण्डानन्द परिपूर्ण है और इसकी प्राप्ति अनन्य भक्ति से पुष्टिमार्ग द्वारा होती है ।

सच्चिदानंद भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है, एक से अनेक रूपों में अभिव्यक्ति की इच्छा होती है, तब वे स्वयं जगत् जीव और अन्तर्यामी रूपों में अभिव्यक्त होते हैं । इसमें भगवान की इच्छा, क्रीड़ा या लीला ही एकमात्र हेतु है । यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, माया कल्पित नहीं है । यह विर्वत नहीं है । यह विकारयुक्त परिवर्तन भी नहीं है । वल्लभ मत में इसे अविकृत परिणाम कहा जाता है । भगवान ही अविकृत भाव से जगदादि रूप ग्रहण करते हैं ।

मर्यादामार्ग या वैदिकमार्ग में भक्ति-कर्म ज्ञान और उपासना के द्वारा प्राप्त की जाती है तथा उसका लक्ष्य सायुज्य मुक्ति है । पुष्टिमार्ग में भक्ति ईश्वर के अनन्य प्रेम द्वारा उनके प्रति आत्मसमर्पण है । इसमें ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई यत्न या साधन नहीं है । भक्ति का स्थायी भाव प्रेम है । भगवान के माहामात्य के ज्ञान सहित उनके प्रति सुदृढ़ सर्वातिशायी प्रेम ही भक्ति कहलाता है और केवल उसी से मुक्ति संभव है, अन्यथा नहीं । प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा भक्ति है । भक्ति और अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए । इसके लिए अधिक साधन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण करना चाहिए और उसके

अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिए । पुष्टि द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है । पुष्टि के चार रूप हैं - (1) प्रवाह पुष्टि (2) मर्यादा पुष्टि (3) पुष्टि पुष्टि तथा (4) शुद्ध पुष्टि ।

प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ श्रीकृष्ण की भक्ति करता है । 'मर्यादापुष्टि' के अनुसार भक्त श्रीकृष्ण के गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्त की साधना करता है । 'पुष्टि पुष्टि' के अनुसार भक्त कृष्ण के अनुग्रह को प्राप्त करता है । 'शुद्ध पुष्टि' के अनुसार भक्त भगवान पर पूर्णत: आश्रित रहता है । वह भगवान का कृपापात्र बनकर अनुग्रह प्राप्त करता है, उनके गुणगान में मस्त रहता है । इस अनुग्रह प्राप्ति के पश्चात् भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है । उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीला भूमि बन जाता है ।

वल्लभाचार्य के पश्चात् उनके पुत्र स्वामी विट्ठलनाथ ने पुष्टिमार्गीय सर्वोत्तम आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की स्थापना की ।

10.8 अभ्यास के प्रश्न

1. भक्तिकालीन विचारधाराओं का उल्लेख कीजिए ।
2. भक्तिकालीन काव्य पर सिद्धों, नाथों, बौद्धों और सूफियों के प्रभावों का उल्लेख कीजिए ।
3. भक्तिकालीन काव्य पर वेदान्त दर्शन के प्रभावों का उल्लेख कीजिए ।

भक्तिकाल के प्रमुख कवि

पाठ संरचना

11.0 उद्देश्य
11.1 परिचय
11.2 निर्गुण ज्ञानमार्गी कवि
11.3 निर्गुण प्रेममार्गी कवि
11.4 सगुण रामभक्ति शाखा के कवि
11.5 सगुण कृष्णभक्ति शाखा के कवि
11.6 अन्य कवि
11.7 अभ्यास के प्रश्न

11.0 उद्देश्य

मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन को, जो मूलत: धर्म के आवरण में साधारण जनता की सामाजिक अस्मिता के सवाल को प्रधान रूप में सामने लाया तथा उन भक्त तथा संत कवियों को, जो बावजूद एक गहरे धार्मिक विश्वास तथा आस्था के, उन विश्वासों तथा आस्था के अपने सारे अन्तर्विरोधों को लिए-दिए साधारण जनता से जुड़े रहे तथा जिन्होंने एक निहायत आक्रांता समाज में साधारण जन को मानसिक परितृप्ति तथा संतोष प्रदान किया, सही रूप में समझ और पहचान सके । इस इकाई का उद्देश्य इन्हीं भक्त तथा संतकवियों से पाठकों को अवगत कराना है ।

11.1 परिचय

भक्तिकाल में भक्ति की दो धाराएँ देखने को मिलती हैं - निर्गुण धारा और सगुण धारा । निर्गुण का शाब्दिक अर्थ गुणरहित है । लेकिन संत साहित्य में निर्गुण गुणातीत की ओर संकेत करता है । निर्गुण यहाँ किसी निषेधात्मक सत्ता का वाचक न होकर उस परब्रह्म के लिए जो सत्व, रजस और तमस तीनों गुणों से परे हैं, जबकि सगुण मतवादियों के इष्ट भगवान श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं । वे अवतार लेते हैं दुष्टों का दमन करते हैं और अपनी लीला से भक्तों के पित्त का रंजन करते हैं । अत: सगुण मतवाद में विष्णु के 24 अवतारों में से अनेक की उपासना होती है जिनमें राम और कृष्ण सर्वाधिक लोकप्रिय और लोकाधारित हैं ।

भक्तिकाल में भक्ति की दोनों धाराओं की दो-दो शाखाएँ हैं । ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी निर्गुण काव्य की शाखाएँ हैं जबकि रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा सगुण काव्य की शाखाएँ हैं ।

11.2 निर्गुण ज्ञानमार्गी कवि

निर्गुण ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने की थी । उन्होंने निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन 'ज्ञान'

को बताया था । ज्ञान वस्तुत: अंतर्ज्ञान है जो सहज ही बिना किसी भक्तिमार्गीय पद्धति या साधनों के सिर्फ सरलता और सत्यनिष्ठा के बल पर उत्पन्न होता है । इसे ही सहजज्ञान कहा गया तथा संत कबीर ने इसे 'ब्रह्मागियान' कहा है । इस धारा के प्रमुख कवियों में कबीर, रैदास, गुरूनानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब आदि का नाम आता है ।

कबीर (1399–1518) – बाल्यावस्था में ही कबीर के भीतर भक्ति की प्रवृत्ति पनप चुकी थी । प्रसिद्ध है कि रामानंद उनके गुरु थे । कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे । आत्मचिंतन एवं लोकनिरीक्षण से जो ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया, उसे ही निर्भयतापूर्वक अपनी साखियों और पदों में अभिव्यक्त किया । वर्णाश्रम धर्म में प्रचलित कुरीतियों और लोक प्रचलित अपधर्म को कबीर ने निशाने पर लिया । वे ऐसे कर्मयोगी थे जो अंधविश्वासों की खाई पाटने के लिए अपना घर जलाने को सदा तैयार रहते थे । उनकी कथनी और करनी में जबरदस्त एकता थी ।

उनकी कविता में छंद, अलंकार, शब्द शक्ति आदि गौण हैं और लोकमंगल की चिंता प्रधान है । इनकी वाणी का संग्रह 'बीजक' नाम से है । बीजक के तीन भाग हैं – सबद में गेयपद हैं, रमैनी चौपाई तथा साखी दोहा छंद में है । सिखों के 'गुरु ग्रंथ साहब' में भी कबीर के नाम से 'पद' तथा 'सलाकु' संकलित हैं । कबीर की अभिव्यंजना शैली बहुत सशक्त थी । उनकी भाषा अनेक बोलियों का मिश्रण है । इस मिश्रित भाषा को सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी कहा गया है । कबीर के काव्य में प्रतीक योजना का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है ।

रैदास (1388–1518) – कबीर की भाँति रैदास का बल भी काव्य और कलापक्ष की अपेक्षा भक्ति पर अधिक रहा है । उनकी कविताओं में सामाजिक विषमता के प्रति मृदु विरोध है । उन्होंने वर्णवादी व्यवस्था की असमानता के प्रति असंतोष प्रकट किया है । रैदास के पद गुरुग्रंथ साहब में संकलित हैं और कुछ फुटकल पद 'सतबानी' में । उनकी भक्ति का स्वरूप निर्गुण है, लेकिन कबीर जैसी आक्रामकता उसमें नहीं है । वे अपनी कविता में अत्यन्त विनम्र और निरीह हैं । उन्होंने मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधानों का विरोध कर आभ्यंतरिक साधना पर बल दिया है । अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह सरल व्यावहारिक ब्रजभाषा है जिसमें अवधी, राजस्थानी, खड़ी बोली और उर्दू फारसी के शब्दों का भी मिश्रण है । उपमा तथा रूपक अलंकार रैदास को अधिक प्रिय हैं ।

संत रैदास रामानंद के बारह शिष्यों में एक हैं । अनन्यता, भगवत प्रेम, दैन्य, आत्मनिवेदन और सरलहृदयता इनकी रचनाओं की विशेषता है । एक उदाहरण देखें –

प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग-अंग बास समानी ।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा ।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती ।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोनहि मिलत सुहागा ।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा ।

गुरूनानक देव (1469–1538) – नानकदेव को सिख पंथ के प्रवर्तक गुरु के रूप में जाना जाता है । इनका जन्म तालवाड़ी ग्राम जिला लाहौर में हुआ था । इनका जन्म स्थान अब ननकाना साहब के नाम से प्रख्यात है और पाकिस्तान में पड़ता है । बाल्यावस्था में इन्हें संस्कृत, फारसी, पंजाबी एवं हिन्दी की शिक्षा प्राप्त हुई । ये आरंभ से ही आत्मचिंतन, ईश्वर भक्ति और संतसेवा की ओर उन्मुख रहे । इनका सुझाव ऐसी उपासना पद्धति की तरफ था, जो सांप्रदायिक न हो । कबीरदास द्वारा प्रवर्तित 'निर्गुण संतमत' इसी प्रवृत्ति का था । अत: कबीर की भाँति धार्मिक

रूढ़िवाद, जाति के संकीर्ण बंधनों तथा अनाचारों के प्रति इन्होंने विरोध का स्वर उठाया । इनके काव्य में निर्गुण ब्रह्म के प्रति उच्च कोटि की भक्ति भावना विद्यमान है, साथ ही ये अन्य धार्मिक विचारधाराओं के लिए भी श्रद्धा रखते थे ।

इनकी बानियों का संग्रह 'आदिग्रंथ' महला नामक खंड में हुआ है । इनमें 'शब्द' और 'सलोकु' के साथ 'जपुजी', आसीदवार, 'रहिरास' एवं 'सोहिला' का भी संग्रह है । इनकी अधिकांश रचनाएँ पंजाबी में हैं, किन्तु कहीं-कहीं ब्रजभाषा और खड़ी बोली का प्रयोग भी मिलता है ।

दादूदयाल (1544-1603) - सिद्धांतत: दादू कबीरमार्गी थे, लेकिन उनका एक स्वतंत्र पंथ भी था जो दादू पंथ के नाम से विख्यात है । दादूपंथी इनका जन्म गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं । इनकी मृत्यु राजस्थान प्रांत के नराणा गाँव में हुई । दादू द्वारा प्रवर्तित 'दादूपंथ' परमब्रह्म संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है । इन्होंने सगुण और निर्गुण की बौद्धिक मीमांसा में न पड़कर निर्गुण भक्त होने पर भी ईश्वर के सगुण रूप में मान्यता दी है । इनकी कविता प्रेमभाव की अभिव्यक्ति करती है । यह प्रेम निर्गुण निराकार ईश्वर के प्रति है । दादू की रचनाओं का संग्रह इनके दो शिष्यों संतदास और जगन्नाथ दास ने 'हरड़ेवाणी' नाम से किया था ।

संत सुंदरदास (1596-1689) - संत सुंदरदास दादूदयाल के शिष्यों में से एक थे । इनका जन्म जयपुर के निकट बौसा नामक स्थान में हुआ था और मृत्यु सांगामेर में हुई । ये संत कवियों में सर्वाधिक शास्त्रज्ञ एवं सुशिक्षित थे । इन्हें देशाटन बहुत प्रिय था । भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धांतों का प्रचार करते तथा काव्य रचना करते । इनके द्वारा रचित बयालीस ग्रंथ बताए जाते हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'सुंदर विलाप' है। समाज की रीति, नीति तथा भक्ति पर इन्होंने विनोदपूर्ण उक्तियाँ कही हैं । ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्य निर्गुण संतों में रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जयनाथ, सिंगा जी, बाबा लाल, सहजोबाई, दयाबाई, बेनी, पीपा, कमाल आदि उल्लेखनीय हैं ।

11.3 निर्गुण प्रेममार्गी कवि

लोकप्रचलित प्रेमकथाओं को लेकर छन्दोबद्ध काव्य लिखने की परिपाटी प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य से ही हिन्दी में प्रवाहित हुई । प्राय: ये कथाएँ परम्परागत रूप में प्राप्त होती थीं । इनमें जनश्रुति और इतिहास दोनों का लोकपोषित रूप होता था । कुछ कथाएँ काल्पनिक भी होती थीं, किन्तु उनमें भी प्राणतत्त्व लोकमान्यताओं और लोकविश्वासों से बना होता था । हिन्दी के सूफी कवियों ने इसी परंपरागत कथाकाव्य के प्रवाह को अपनाया और अपने काव्य रचे । हिन्दी के सूफी काव्य प्राय: भावुक, उदारमना थे । भारतीय मुसलमान जिन्होंने हिन्दुओं के घर-घर में परम्परा से प्रचलित प्रेम कहानियों को उदार मानवतावादी दृष्टि से अपनाकर ऐसे काव्य रचे जिनसे धर्म-संप्रदाय, जाति-लिंग आदि के विभेद पीछे छूट गए और संवेदना के धरातल पर प्रेम के दिव्य स्वरूप की प्रतिष्ठा हो गई । इन कवियों का उद्देश्य मानव हृदय को झंकृत करना था जो बुनियादी रूप से एक और अखंड है । हिन्दी के कुछ प्रमुख सूफी कवि हैं -

मुल्ला दाउद - मुल्ला दाउद ने अपने प्रमुख काव्य चंदायन की रचना चौदहवीं शती के अंतिम वर्षों में की थी । चंदायन पूर्वी भारत में प्रचलित लोरिक, उसकी पत्नी मैना तथा उसकी प्रेयसी चंदा की प्रेमकथा पर आधारित है । परिष्कृत अवधी में लिखा गया यह काव्य इस तथ्य को सूचित करता है कि 14वीं शती तक अवधी काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी ।

कुतुबन – कुतुबन का काव्य 'मृगावती' चौथाई दोहे की कड़बक शैली में रचा गया काव्य है । इसकी रचना 16वीं शती के आरंभ में हुई है । 'मृगावती' (1503) में नायक राजकुमार तथा नायिका मृगावती के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का निरूपण अत्यन्त भावात्मक शैली में हुआ । परम्परागत आख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का भी समन्वय इसमें कुशलतापूर्वक हुआ है । मृगावती की प्राप्ति के लिए नायक योगी वेश में घर से निकल जाता है तथा मार्ग में एक अन्य सुन्दरी को किसी राक्षस के चंगुल से निकालकर इससे विवाह करता हुआ अन्त में मृगावती को पाने में सफल हो जाता है । कथा की परिणति अपभ्रंश के जैन काव्यों की परम्परा के अनुसार शान्त रस में होती है, क्योंकि नायक की मृत्यु के अनन्तर नायिकाओं का सती होना दिखाया गया है । इसकी भाषा अवधी है तथा दोहा में चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है । शैली में प्राय: सरलता, प्रवाह एवं सरसता मिलती है ।

मंझन – मंझन कृत मधुमालती (1545) में नायक-नायिका के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम के साथ-साथ पूर्व जन्म के प्रणय-संस्कारों की भी महत्ता दिखाई गई है । नायक के प्रेम की गंभीरता एवं एकोन्मुखता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह एक ओर तो मधुमालती की प्राप्ति के लिए भाँति-भाँति के कष्टों को सहन कर लेता है तथा दूसरी ओर महासुन्दरी प्रेमा के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देता है । सामान्यत: हिन्दी प्रेमाख्यानों में नायक को बहुपत्नीवादी दिखाया गया है, किन्तु यह प्रेमाख्यान इसका अपवाद है । प्रेमाख्यानों की परम्परागत रूढ़ियों में से नायक के योगी होकर घर से निकलने, किसी अन्य राजकुमारी को राक्षस से बचाने, माँ के शाप के कारण नायिका के पक्षी हो जाने आदि का निर्वाह इसमें मिलता है । इसमें अवधी भाषा एवं दोहा-चौपाई का प्रयोग हुआ है तथा इसकी शैली में सरलता एवं सरसता है ।

मल्लिक मुहम्मद जायसी (1495-1548) –'जायसी' हिन्दी की सूफी काव्य परम्परा के प्रतिनिधि और प्रधान कवि माने जाते हैं । इनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, किन्तु उनमें 'पद्मावत' मुख्य है । 'पदमावत(इनके अक्षय यश का आधार है । 16वीं शती में लिखे गए इस काव्य में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन एवं सिंहल की राजकुमारी पद्मावत के प्रेम, विवाह एवं विवाहोत्तर जीवन का मार्मिक चित्रण है । कथावस्तु को आलोचकों ने दो खण्डों में रत्नसेन-पद्मावती के विवाह तक पूर्वांग भाग शेष उत्तरार्द्ध को ऐतिहासिक माना है, किन्तु अब ये दोनों निष्कर्ष विवादास्पद हो गए हैं । जहाँ तक पूर्वार्द्ध बात है वह जायसी से पूर्व भी विभिन्न रूपों में मिलता है; अत: इसे स्वयं उनकी कल्पना पर आधारित नहीं माना जा सकता । उत्तरार्द्ध के पूर्णत: ऐतिहासिक होने के विषय में भी अनेक अकाट्य प्रमाण श्री इन्द्रचन्द्र नारंग और डॉ० शिव सहायक पाठक द्वारा प्रस्तुत किए जा चुके हैं । डॉ० हरदेव बाहरी ने प्राकृत साहित्य का इतिहास में जायसी के बहुत पूर्व प्राकृत में रचित 'रत्नशेखर कथा' का परिचय दिया है, जिसकी कथावस्तु 'पद्मावत' की कथा से गहरा साम्य रखती है । ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि रत्नसेन की कथा या इससे मिलती-जुलती कोई अन्य कथा पद्मावतकार के समक्ष रही थी, जिसे उन्होंने पल्लवित करके हिन्दी रूप दे दिया । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'पद्मावत' के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में इसके रचयिता का कोई योगदान नहीं है – वस्तुत: परम्परागत ढाँचे को सुविकसित करके उसे जैसा सुरम्य रूप दिया गया है, वह निश्चय ही कवि की प्रतिभा व कल्पना शक्ति की सबलता को प्रमाणित करता है ।

'पद्मावत' मूलत: रोमांचक शैली का कथा-काव्य है, किन्तु आलोचकों ने इसे आदर्श परक महाकाव्यों की कसौटी पर कसने का प्रयास किया, फलस्वरूप उन्हें निराशा का सामना करना पड़ा । कुछ विद्वानों ने कथाकाव्य और महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयास भी किया है ।

कवित्व एवं भाव व्यंजना की दृष्टि से 'पद्मावत' अत्यन्त उच्च कोटि का काव्य है । पद्मावत के सौन्दर्य, नागमती के विरह, रत्नसेन के साहस, त्याग एवं शौर्य की व्यंजना इसमें अत्यंत प्रभावोत्पादक शैली में हुई है । भारतीय कथाकाव्य की प्राय: सभी रूढ़ियों एवं प्रवृत्तियों का नियोजन इसमें सफलतापूर्वक हुआ है । काव्य की शैली में सर्वत्र प्रौढ़ता एवं गंभीरता परिलक्षित होती है । प्रतीकात्मक या रूपक तत्त्व के कारण इसमें व्यंग्यप्रधान ध्वनि का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया है । इसकी भाषा अवधी है तथा छन्द योजना में नियमित रूप में चौपाई दोहे का प्रयोग हुआ है । पद्मावत काव्य और इसकी कथा का अंत त्रासद है, किन्तु त्रासदी में उत्सर्गमय प्रेम का अमर संदेश छिपा हुआ है ।

'पद्मावत' के अतिरिक्त जायसी द्वारा रचित और भी अनेक काव्य उपलब्ध हुए हैं जिनमें 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'चित्ररेखा', 'कहरानामा', 'मसलानामा' आदि उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी के इन प्रमुख सूफी कवियों के अतिरिक्त इस काव्य धारा में 'चित्रावली' के कवि उसमान, 'ज्ञानदीप' के कवि शेख नबी, 'हंस जवाहिर' के कवि कासिम शाह, 'इंद्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी' के कवि नूर मुहम्मद आदि अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हो चुके हैं ।

11.4 सगुण रामभक्ति शाखा के कवि

सगुण रामभक्ति शाखा के कवियों का संबंध रामानंद से है । इन्हें रामकाव्य परम्परा की भावधारा और चिन्तन का मेरूदंड कहा जाता है । भक्ति के लिए रामानंद ने वर्णाश्रम व्यवस्था को व्यर्थ बताया । उन्होंने भक्ति को सभी प्रकार की संकीर्णता से दूर करके इतना व्यापक बना दिया कि उसमें गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, निर्गुण-सगुण, सवर्ण-अवर्ण, हिंदू-मुसलमान सभी आ गए । रामानंद ने शास्त्र परंपरा और संस्कृत भाष के स्थान पर लोक जागरण और लोक कल्याण के लिए लोक भाषा में काव्य-सृजन को महत्त्व दिया । इस परंपरा के कवियों में अग्रदास, ईश्वरदास, गोस्वामी तुलसीदास, नाभादास, केशवदास सेनापति आदि महत्त्वपूर्ण हैं ।

अग्रदास - स्वामी रामानन्द की शिष्य परंपरा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए । उन्होंने कृष्णदास पयहारी से दीक्षा लेकर शिष्यत्व स्वीकार किया था । अग्रदास 1556 ई० के लगभग विद्यमान थे । इनके अनेक ग्रंथों की चर्चा गलता की गद्दी-परम्परा में आज भी होती है । मुख्य ग्रंथों में 'ध्यान मंजरी', 'अष्टयाम', 'रामभजनमंजरी', 'उपासना बावनी' और 'पदावली' है । हितोपदेश भाषा' भी इनके द्वारा प्रणीत है । इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है । सुन्दर पद रचना और अलंकारों का यथास्थान प्रयोग से यह प्रमाणित है कि इनको शास्त्रीय साहित्य का ज्ञान था । गोस्वामी तुलसीदास के समय तक तो रसिकता की भावना प्रच्छन्न रही, किन्तु उनके बाद अग्रदास जी की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करके तीव्र गति के साथ पल्लवित हुई, जिसका चरमोत्कर्ष रीतिकालीन रामकाव्य में सहज अभिव्यक्त किया जा सकता है । 'अष्टयाम' अथवा 'रामाष्टयाम' इनकी सर्वप्रमुख रचना है । इसमें सीता वल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का चित्रण है ।

ईश्वरदास - ईश्वरदास की जन्मतिथि उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'सत्यवती कथा' की रचनाकाल (1501) के आधार पर अनुमान की जाती है । 'सत्यवती कथा' की रचना यदि कवि ईश्वरदास ने युवावस्था में की होगी तो उनका जन्म 1480 ई० के आसपास माना जा सकता है । ईश्वरदास की रामकथा से सम्बद्ध रचना 'भरत मिलाप' है, जिसका उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में हुआ है । राम वनवास के समय भरत अयोध्या में नहीं है थे । अपनी ननिहाल से आने पर राम के वनगमन के समाचार से खिन्न होकर वे विलाप करने लगे और सारी प्रजा

उनके साथ दु:खकातर हो उठी । राम से मिलने के लिए व्याकुल होकर भरत उनके पास गए । इसी करूण कोमल प्रसंग को इस काव्य कृत में पद्यबद्ध किया गया है । ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'अंगदपैज' भी मिलती है, जिसमें रावण की सभा में अंग के पैर जमाकर डट जाने का वीररसपूर्ण वर्णन मिलता है । इन रचनाओं के आधार पर ईश्वरदास को रामभक्ति परंपरा में स्थान दिया जाता है ।

गोस्वामी तुलसीदास (1543-1623) - तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम तुलसी था । इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ । कभी अत्यधिक आसक्ति से खीझकर इनकी पत्नी ने इनकी मधुर भर्त्सना करते हुए कहा था - 'लाज न आई आपको दौरे आए साथ' इस भर्त्सना ने इन्हें लौकिक विषयों से विमुख कर प्रभु प्रेम की ओर उन्मुख कर दिया ।

तुलसीदास द्वारा रचित बारह ग्रंथ प्रामाणिक माने गए हैं । दोहावली, भक्ति रामायण (कवितावली), गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञाप्रश्न, रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, बखैरामायण, वैराग्य संदीपनी और श्रीकृष्णगीतावली ।

गोस्वामी जी की रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है - भाव-वैविध्य और रूप-वैविध्य । रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को जनता के सामने प्रस्तुत कर वि शृंखलित समाज को केन्द्रित करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है । तुलसीदास की भक्ति भावना में रहस्यमयता नहीं है । वह सीधी, सरल एवं सहजसाध्य है । उनके राम सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं और सभी के लिए सुलभ हैं ।

गोस्वामी जी की शैली में भी वैविध्य है, जो भाव वैविध्य के अनुरूप है । उन्होंने अपनी रचनाओं में वीरगाथा की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति पद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, नीतिकाव्यों की सूक्ति पद्धति, प्रेमाख्यानों की दोहा चौपाई की प्रबंध पद्धति आदि सभी काव्य-शैलियों का सफल प्रयोग किया है । प्रबंध-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण, प्रकृति वर्णन, अलंकार विधान, भाषा और छंद प्रयोग की दृष्टि से गोस्वामी जी अद्वितीय हैं । उक्ति वैचित्र्य उनकी प्रमुख विशेषता है ।

गोस्वामी जी की भक्ति-भावना मूलत: लोकसंग्रह की भावना से अभिप्रेरित है । जिस समय समसामयिक निर्गुण भक्त संसार की असारता का आख्यान कर रहे थे और कृष्णभक्त कवि अपने आराध्य के मधुर रूप का आलम्बन ग्रहण कर जीवन और जगत में व्याप्त नैराश्य को दूर करने का प्रयास कर रहे थे, उस समय गोस्वामी जी ने मर्यादा-पुरूषोत्तम राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य से संबलित अद्‌भुत रूप का गुणगान करते हुए लोकमंगल की साध नावस्था के पथ को प्रशस्त किया । तुलसी का समन्वयवाद उनकी भक्ति-भावना में भी दिखायी देता है । 'रामचरितमानस' में उन्होंने राम और शिव दोनों को एक-दूसरे का भक्त अंकित करके वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों को एक ही सामान्य भावभूमि प्रदान की है ।

तुलसीदास ने ब्रजभाषा और अवधी दोनों भाषाओं में लिखा है । उनकी अवधी संस्कृतनिष्ठ है । अवधी शब्दों में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग उन्होंने इस ढंग से किया है कि पूरी पदावली अवधी के ध्वनि प्रवाह में ढल जाती है । इसका प्रमुख कारण यह है कि तुलसीदास वर्णानुप्रास के अद्‌भुत कवि हैं और उनकी नाद योजना उनकी काव्यकला की महत्त्वपूर्ण विशेषता है ।

नाभादास - नाभादास भी रामानंद की शिष्य परंपरा से आते हैं । इनकी उपस्थिति सन् 1575 के आसपास मानी जाती है । ये तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवियों में अतिविशिष्ट हैं । इन्होंने भक्तमाल परंपरा का सूत्रपात किया और

अभी तक उपलब्ध भक्तमालों में सर्वश्रेष्ठ 'भक्तमाल' हिन्दी को दिया । नाभादास ने इस ग्रंथ की रचना 1585 ई० के आसपास की । प्रियादास के द्वारा 1712 ई० में इसकी टीका लिखी गई । इसमें 200 भक्तों के चरित 316 छप्पयों में वर्णित हैं । 'भक्तमाल' के अतिरिक्त इन्होंने 'अष्टयाम' की भी रचना की ।

नाभादास संस्कृत काव्यशास्त्र और छंदशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे । इन्होंने अपनी समास शैली का परिचय देते हुए 'भक्तमाल' में जिन भक्तों का परिचय लिखा है; उनकी रचना शैली, काव्य कला, उपासना पद्धति, विशिष्टता आदि को एक ही छप्पय में सूत्र शैली में समाविष्ट कर दिया है । यह ग्रंथ ब्रजभाषा में है ।

इसके अतिरिक्त रामभक्तिशाखा के अन्य उल्लेखनीय कवियों में प्राणचंद चौहान एवं हृदयराम प्रमुख हैं । 'रामचंद्रिका' के कारण केशवदास को भी कुछ लोगों ने रामभक्तिशाखा का कवि माना है । हालांकि केशवदास का महत्त्व उनके आचार्यत्व में ही है । अत: उन्हें रीतिकालीन कवि के रूप में ही याद किया जाना चाहिए ।

11.5 सगुण कृष्णभक्ति शाखा के कवि

पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य के दार्शनिक चिंतन से कृष्ण भक्तिधारा को एक आधार मिला । देशाटन, जन सम्पर्क और शास्त्रार्थ के द्वारा उन्होंने इस भक्ति का प्रचार किया । उनके अनुसार यह सारी सृष्टि भगवत लीला के लिए आत्मकृति है । अर्थात् भगवान की लीला के लिए उनके द्वारा ही बनाई गई सृष्टि है । जीव ब्रह्म का अंश है और वह तीन प्रकार का होता है - 1. प्रवाह जीव, 2. मर्यादा जीव और 3. पुष्टि जीव । प्रवाह जीव सांसारिक प्रवाह में पड़े रहते हैं । मर्यादा जीव विधि निषेध का पालन करते हैं और पुष्टि जीव भगवान का अनुग्रह प्राप्त करते हैं । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भक्ति के लिए प्रेम तत्त्व को महत्त्व दिया है इसलिए पुष्टिमार्गीय भक्ति को 'प्रेमभक्ति' भी कहते हैं । कृष्णभक्ति शाखा में सर्वप्रथम 'अष्टछाप' के कवियों की गणना होती है । इनमें चार क्रमश: वल्लभाचार्य के शिष्य हैं और बाकी चार उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के । ये निम्नांकित हैं - कुंभनदास, परमानंददास, सूरदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, नंददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास ।

सूरदास (1478-1583) - सूरदास का जन्म 15वीं शती के अंतिम वर्षों में हुआ था । ब्रज के गउघाट में श्री वल्लभाचार्य से उनका साक्षात्कार हुआ था । वल्लभाचार्य से उपदेश पाकर वे श्रीकृष्ण के लीला विषयक पदों की रचना करने लगे । पहले सूर के भक्ति विषयक पद विनय और दैन्य भाव के होते थे । श्री वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने पर उनके पद वात्सल्य और माधुर्य भाव के होने लगे । सूरदास द्वारा रचित पुस्तकों में 'सूरसागर', 'साहित्यलहरी' आदि प्रमुख हैं । 'सूरसागर' उनकी श्रेष्ठ कृति है । सूरसागर की रचना 'भागवत' की पद्धति पर द्वादश स्कंधों में हुई है । 'साहित्यलहरी' सूरदास के सुप्रसिद्ध दृष्टकूट पदों का संग्रह है । इसमें अर्थगोपन की शैली में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है । अलंकार निरूपण की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है ।

ब्रजभाषा में गीतिकाव्य की परंपरा को सूरदास ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया । कविता, संगीत, नाट्य, चित्र, मूर्ति आदि कलाओं का एकत्र समाचार उनके काव्य में है । ब्रजभाषा को ग्रामीण जनपद उठाकर उन्होंने नगर और ग्राम के संधिस्थल पर ला बिठाया । उनकी भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है, फिर भी वह सुगम है । संस्कृत और फारसी-अरबी शब्दों के साथ ब्रजभाषा की माधुरी सूर की भाषा शैली में सजीव विद्यमान है । अवधी और पूर्वी हिन्दी शब्द भी उनकी भाषा में है ।

कृष्ण भक्ति सूरकाव्य का मुख्य विषय है । 'भागवत' के आधार पर उन्होंने राधा-कृष्ण की अनेक लीलाओं

का वर्णन किया है । सूरसागर में उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव और कैशोरवय की विविध लीलाओं को स्थान दिया है, इनमें उनकी अंतर्रात्मा गहरी अनुभूति तक उतर सकी है । बालक की विविध चेष्टाओं और विनोदों के क्रीड़ास्थल, मातृहृदय की अभिलाषाओं, उत्कंठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिन्दी के श्रेष्ठतम कवि हैं । भक्ति के साथ श्रृंगार को जोड़कर उसके संयोग और वियोग पक्ष का मार्मिक चित्रण सूर के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है । वियोग के संदर्भ में भ्रमरगीत प्रसंग सूर की काव्य कला का उत्कृष्ट निदर्शन है ।

सूर काव्य का मुख्य विषय कृष्ण भक्ति है । 'भागवत' पुराण को आधार बनाकर उन्होंने राधाकृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन 'सूरसागर' में किया है । सूर की दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है, उनके द्वारा दुष्ट-दलन आदि का वर्णन सामान्य रूप से ही किया गया है । लीला-वर्णन में कवि का ध्यान मुख्यत: भाव चित्रण पर रहा है । विनय और दैन्य-प्रदर्शन के प्रसंग में जो पद सूर ने लिखे हैं, उनमें भी उच्चकोटि के भावों का समावेश है । सूर के भाव चित्रण में वात्सल्य भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है । बाल भाव और वात्सल्य से सने मातृहृदय के प्रेम भावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते । बालक के विविध चेष्टाओं और विनोदों के क्रीड़ास्थल, मातृहृदय की अभिलाषाओं, उत्कण्ठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं ।

कुम्भनदास - कुम्भनदास का चरित चौरासी वैष्णव की वार्ता के अनुसार संकलित किया जाता है । उनका जन्म गौरवशाली क्षत्रीय कुल में हुआ था । कुम्भन दास जी विवाहित थे और उनका विशाल परिवार था । सात पुत्र थे । जिनमें सबसे छोटे चतुर्भुजदास को छोड़कर अन्य सभी कृषि धर्म में लगे रहते थे । उनके द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता - कुछ पद 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर', 'वर्षोत्सव कीर्तन', 'वसंत धमार कीर्तन' आदि में संकलित हैं । कौकरोली विद्या-विभाग से प्रकाशित पद संग्रह में उनके 186 पद हैं । जबकि एक दूसरा संकलन नाथ द्वारा के पुस्तकालय में बताया जाता है जिसमें 367 पद हैं । कुम्भनदास की पद-रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं है जितनी संगीत और लय का सौन्दर्य है । उनके पदों में श्रीनाथ जी की साम्प्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है । कुम्भनदास की काव्य भाषा साधारण ब्रजभाषा है जो उस समय गोवर्धन के समीप बोलचाल की भाषा रही होगी । संस्कृत अथवा अन्य भाषाओं का प्रभाव भी न्यून मात्रा में है ।

परमानन्ददास - परमानंददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं । इनका जन्म कन्नौज में एक निर्धन काव्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उन्होंने भी अपनी रचनाओं में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है । परमानन्ददास की रचनाओं का प्रकाशन 'परमानन्दसागर', 'परमानंद के पद' और 'वल्लभसम्प्रदायी कीर्तन-पद-संग्रह' के नाम से हुआ है । इसके अतिरिक्त 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित' भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं । कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके इन्होंने केवल माधुर्य-पक्ष की लीलाओं का गान किया गया है । इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्णविषयक है । बाल मनोविज्ञान के सुन्दर चित्र उनके काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है । पूर्वराग अवस्था की वियोग वेदना और मिलन की उत्कट कामना की व्यंजना भी उनके पदों में अत्यंत प्रभावपूर्ण है ।

कृष्ण दास (1533-1578) - कृष्णदास का जन्म अहमदाबाद के चिलोतरा गाँव में हुआ था । कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ थे । उन्होंने बाललीला, राधाकृष्ण प्रेम प्रसंग, रूप सौंदर्य आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है । इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । कुछ फुटकल पद ही उपलब्ध हो जाते हैं, जो 100 से कुछ अधिक हैं । कृष्णदास के पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है ।

नन्ददास (1533-1586) - नंददास का जन्म उत्तर प्रदेश के सोरों (सूकर क्षेत्र) के रामपुर गाँव में हुआ था ।

ये सूरदास के समकालीन और अष्टछाप कवियों में से थे । काव्य सौष्ठव और भाषा की प्रंजलता की दृष्टि से इनका स्थान सूरदास के बाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इनके काव्य के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है - 'और कवि गढ़िया नंददास जड़िया' । इनकी काव्य कृतियों में 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', दशम स्कंध भाषा' आदि प्रमुख हैं । 'रासपंचाध्यायी' इनकी श्रेष्ठ कृति मानी जाती है । यह काव्य लौकिक गोपी प्रेम और संगीत प्रवीण होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में श्रुतिमधुर, प्रांजलता, संगीतात्मकता और प्रवाह की सृष्टि हुई है ।

भँवरगीत नंददास के परिपक्व दर्शन-ज्ञान, विवेकबुद्धि, तार्किक शैली और कृष्णभक्ति की परिचायक काव्य है । इसके पूर्वार्द्ध में गोपी-उद्धव संवाद है और उत्तरार्द्ध में कृष्ण प्रेम में गोपियों के विरह दशा का वर्णन है । सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना की ललित और मोहक पदावली नंददास के काव्य में मिलती है ।

गोविन्दस्वामी - गोविन्दस्वामी का जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आँतरी गाँव में 1505 ई० में हुआ था । गोविन्दस्वामी ने किसी स्वतंत्र ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया । भजन कीर्तन के लिए पद समय-समय पर ये लिखते थे, उन्हीं का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध है । इनके द्वारा रचित 600 पद बताए जाते हैं, किन्तु 252 पद पुष्टि सम्प्रदाय में अधिक प्रसिद्ध हैं । इन्होंने मुख्यतः राधा-कृष्ण की शृंगार लीला विषयक पद-रचना की है, किंतु कुछ पद बाललीला के भी लिखे हैं । इनके काव्य की भाषा ब्रज है ।

छीतस्वामी - छीतस्वामी (1515-1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में यजमानी और पंडागिरी होती थी । यौवनावस्था में छीतस्वामी जितने उद्दंड और वाचाल थे, प्रौढावस्था में उतने ही गंभीर और विरक्त हो गए । पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के निकट पूंछरी नामक स्थान में एक तमाल वृक्ष की छाया में रहने लगे थे । काव्य और संगीत में इनकी विशेष रुचि थी, अतः सारा समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत करते थे । छीतस्वामी का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता । कीर्तन के लिए इन्होंने जो स्फुट पद रचना की वही 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं । इनके पदों और कवित्तों में ब्रजभाषा का पर्याप्त लालित्य है । यद्यपि इनकी कविता साधारण कोटि की है, फिर भी भक्तिकाल से परिपूर्ण है ।

चतुर्भुजदास - चतुर्भुजदास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के सबसे छोटे पुत्र थे । इनका जन्म 1530 ई० में गोवर्धन के समीप जमुनावती गाँव में हुआ था । इनका देहावसान 1585 ई० में हुआ । इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, स्फुट पदों को ही 'चतुर्भुज कीर्तन संग्रह', 'कीर्तनावली' और 'दानलीला' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है । 'द्वादशयश', 'मधुमालती' और 'भक्तिप्रताप' नाम से इनके जो अन्य ग्रंथ बताए जाते हैं, वे इनके न होकर राधावल्लभीय तथा अन्य चतुर्भुजदास के हैं । कृष्ण जन्म से लेकर गोपी-विरह तक ब्रजलीला-गान इन्होंने किया है, किन्तु किसी मौलिक प्रसंग की उद्भावना इनके पदों में नहीं मिलती । साधारण ब्रजभाषा को ही इन्होंने अपनाया है । श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस प्रकार के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुसरण पर इन्होंने पद लिखे हैं ।

11.6 अन्य कवि

मीराबाई (1504-1558-63 के बीच) - मीरा का जन्म मेड़वा के निकट 'कुड़की' गाँव में राठौर वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था । इस शाखा के मूल पुरुष राव दूदा थे । मीरा उन्हीं के पुत्र रत्नसिंह के घर पैदा हुई थी । मीरा जब दो वर्ष की थीं, तभी उनकी माता का देहांत हो गया । उनके पिता सदैव युद्धरत रहने के